आनन्दानुसन्धान

विचारक-

ब्रह्मयोगी संविदानन्द

(अद्वयब्रह्मविद्या का अनुसन्धित्सु)

- पुस्तक प्रकाशनमें आर्थिक सहयोग -

मुकेश गुप्ता, चण्डीगढ

- संकलन -

श्री विजयपाल एडवोकेट

- व्यवस्थापक -

मुकेश कुमार

571, गली नं० 16,

गाँधी कालौनी, मुजफ्फरनगर

मोबाइल- 09319170555

मूल्य- रु० 100/-

मुद्रक- ईशान प्रिन्ट सोल्यूशन - 09358919245

आनन्दानुसन्धान

विषय सूची

आनन्दके लिए चिन्तन

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैव सेतुः॥
(मुण्डक 2/2/5)

इस मन्त्रमें निर्देश है कि अनन्त वस्तुको अपना स्वरूप अनुभव करो, अन्य सब बातें छोड़ दो। अर्थात् कुछ मत करो, कुछ मत सोचो, कोई वाक्-व्यवहार मत करो। अमृतकी प्राप्तिका यही उपाय है। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती वाणीके विषयको अर्थात् जो भी बोला जानेवाला, सोचा जानेवाला और साक्षीभास्य है, उसे छोड़ दो। यह भी कह सकते हैं कि अपनेसे पृथक् जो भी है, उसे छोड़ दो। केवल अपना ही अनुभव करो। बृहदारण्यक श्रुति कहती है–

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

अर्थात् केवल आत्माका ही अनुसन्धान करो। इसके अतिरिक्त तुम जो भी करोगे, वह सब व्यर्थ हो जायगा। अन्य कुछ है नहीं। श्रुति अन्तमें कहेगी कि यह सब तुम हो– 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्', 'अहमेवेदं सर्वम्'। इसलिए वह निर्भय होकर सबकुछ छोड़नेका निर्देश कर रही है। तुम्हें छोड़ने योग्य नहीं लगता; परन्तु छोड़ दो; क्योंकि यह काम नहीं देगा। सुषुप्तिमें जो नहीं रहता, वह तुम्हारे काम नहीं आयेगा। ऐसा अनुभवसे भी लगता है। सुषुप्तिमें वेद और ईश्वर भी नहीं रहते– 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति।' सुषुप्तिमें केवल तुम रहते हो, तुम्हारे सिवाय अन्य कुछ नहीं रहता। जब कुछ रहना ही नहीं है, सुषुप्तिमें भी कुछ नहीं रहता और मृत्युके बाद भी कुछ नहीं रहेगा, तो विनाशी वस्तुओंके लिये व्यर्थ प्रयास क्यों कर रहे हो? अपना स्वरूप जो अविनाशी है, वही रहता है।

छोड़नेका अर्थ समझ लेना चाहिए– सुषुप्तिमें क्या छोड़ा? सिर्फ सब ओरसे ध्यान हट जाता है और सब छूट गया। इसप्रकार छोड़ना माने उधर ध्यान न देना। तुम्हें जिसे छोड़ना है, उधर ध्यान न दो तो वह छूट जायगा। सुषुप्तिमें जो शेष बचता है, वह अमृत है। अमृतका सेतु है– 'अन्या वाचो विमुञ्चथ।' अमृत क्या है? अपनी स्वयंताको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्।' जिसमें सम्पूर्ण अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म प्रतीतिमात्र है, ये

तीनों जिससे ओत-प्रोत हैं– उस अधिष्ठानको तुम अपनी आत्मा अनुभव करो। केवल अनुभव करो, अन्य कुछ मत करना। यह बात 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' से स्पष्ट हो गयी। लोग बाहरसे तो छोड़ देते हैं, परन्तु मनसे विषयको पकड़े रखते हैं। जो मनसे छोड़ा जाता है, वह बाहरसे भी अपने-आप छूट जाता है। किसलिए छोड़ना है? अपनेको ब्रह्म अनुभव करनेके लिए।

यदि तुम्हें लगता है कि शास्त्र, गुरु, संसार और विषय मुझसे पृथक् हैं; तो उधर से ध्यान हटा लो। जब तुम सर्वसे ध्यान हटा लोगे, तो जो शेष रहेगा, वही तुम हो। विषय हममें परिच्छिन्नताका आरोप कर रहे हैं। दृश्य, प्रतीति, अनुभाव्य हमपर आरोप कर रहे हैं कि हम शरीर हैं, जीव हैं। यदि हम उधर ध्यान न दें, तो हमारा ध्यान अपनी ओर चला जायगा। सिर्फ जिज्ञासा चाहिए। यदि जिज्ञासा न हो, तो अपनेसे यह प्रश्न करो कि 'जिसे जिज्ञासा नहीं है, वह कौन है?' यह अनुसन्धान तो सब कर ही सकते हैं। जो शेष रहेगा, वह प्रत्यक् चैतन्य ही प्रत्यक् ब्रह्म है।

माण्डूक्य श्रुतिके सातवें मन्त्रमें 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' को इसप्रकार समझाया गया है– 'नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।(माण्डूक्य० 7)

वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है– सबको मना कर दिया। जो भी 'इति' पदका वाच्य है, उसे छोड़ दो। जब तुम सबकुछ छोड़ दोगे, तो 'मैं हूँ'– केवल यह आत्म प्रत्यय रह जायगा, साररूपसे। नान्तःप्रज्ञं० का अर्थ है कि वहाँ छोड़नेवाला भी नहीं है। अतः इस कर्तापनको, इस अहंकारको भी छोड़ दो। जैसे सुषुप्तिमें अहंकार, बुद्धि, निश्चय, सारी मान्यताएँ, धारणाएँ आदि सब छूट जाते हैं। एक आत्मप्रत्यय बचता है। शान्तं शिवं– जो शान्त है, शिव है अर्थात् आनन्द है। 'अद्वैतम् स आत्मा'– मात्र वही आत्मा है, वही मैं हूँ। 'स विज्ञेयः'– उसीका ही अनुभव करना चाहिए। उसे जानना चाहिए, समझना चाहिए, पहचानना चाहिए और केवल अनुभव करना चाहिए। अथवा ऐसे कह सकते हैं कि इसीको जानो, इसीको मननके द्वारा समझो, इसीको निदिध्यासनके द्वारा पहचानो और फिर 'तदभवत'– वही हो जाओ। तुम्हें यह भी नहीं लगेगा कि तुम्हें अनुभव हो गया; क्योंकि 'तदासीत्'– तुम वही थे। कोई नई घटना नहीं घटेगी। बस, तुम जो पहलेसे थे, वही अपनेको अनुभव कर

लोगे। तुम वही रहोगे और तुम वही हो।

इसको पहचानें कैसे? अनुभव कैसे करें? यदि तुमने यह प्रश्न उठाया, तो तुम्हें अपने ऊपर किसी साधनाका, युक्तिका अथवा उपायका अर्थात् अनात्माका अध्यारोप करना पड़ेगा। लोग कहेंगे कि तुम पहले किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाओ, उनकी सेवा करो, वे तुम्हें उपदेश करेंगे। फिर कहेंगे कि श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो, अन्तःकरणको शुद्ध करो। इन बातोंसे वे तुम्हें अनात्माके घेरेमें डाल देंगे और फिर तुम उन्हींमें चक्कर काटते रहोगे। क्या अन्तःकरण है, जो उसे शुद्ध करें? क्या जीवन है, जो उसे शुद्ध करें? अभी शुद्ध करोगे, तो परिवर्तनशीलताके नियमसे वह फिर अशुद्ध हो जायगा। प्रतिदिन सबको सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण आते हैं। तुमने सत्त्वगुण बढ़ा लिया, तब भी रजोगुण और तमोगुण गौणरूपसे रहेंगे। प्रकृति माने अनात्मा। तुम जितने भी उपाय करोगे, भटक जाओगे। सब छोड़ दो। अन्तःकरण कौन शुद्ध करेगा? गुरुके पास कौन जायगा? युक्तिका प्रयोग कौन करेगा?– उधर ध्यान दो। तुम जब विचार करोगे, तो बुद्धिका सहारा लेना पड़ेगा या नहीं? जब प्रकृति ही अशुद्ध है, तो उससे बने हुए अन्तःकरण आदि शुद्ध कैसे होंगे? इन सब बातोंके, अनात्माके चक्करमें न पड़कर सीधे-सीधे श्रुतिकी बात मान लो। वह कहती है– 'आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्येत्।' अपनेमें अपने द्वारा अपना अनुभव करो। तीन विभक्तियाँ इसलिये दी हैं कि अनात्माका सहारा नहीं लेना है। आत्मना माने अपने द्वारा। किसी गुरुका, शास्त्रका, व्यक्तिका, प्रत्ययका, भावना या अध्यारोपका सहारा मत लेना। आत्मानम् माने अपना अनुभव करो। अपनी नजर अपने पर रखो– इसका क्या अर्थ हुआ? अद्वैत। जब तुम और तुम्हारी नजर एक हो जायगी, तो अद्वैत आ जायगा। अद्वैत माने जिसके सिवाय कुछ नहीं है अर्थात् सब समाप्त। माण्डूक्य श्रुतिने भी 'नान्तःप्रज्ञं०' मन्त्रके द्वारा सबका निषेध कर दिया और कहा– ' स आत्मा स विज्ञेयः।'

'आत्मनि आत्मना आत्मानम्' तक आनेके लिए माण्डूक्य श्रुति थोड़ा छूट देती है कि यदि तुम्हें सहारा लेना भी है तो ॐ का, प्रणवका सहारा ले लो अथवा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके आलम्बनसे 'अयमात्मा ब्रह्म' अनुभव कर लो। इससे अधिक अनात्माका सहारा मत लेना। सुषुप्तिके द्वारा तुम अपनेको अच्छी तरहसे समझ सकते हो।

लोग ज्ञानके लिए अन्तःकरण का शुद्ध होना आवश्यक मानते हैं। वे कहेंगे कि तुम्हें अपना बोध इसलिए नहीं हो रहा है; क्योंकि तुम अधिकारी नहीं हो, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। दूसरी ओर गीता कहती है–

'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता 4èk36)

बड़े-से-बड़ा पापी क्यों न हो, जिसका अन्तःकरण बिल्कुल अशुद्ध हो, वह भी यदि अपना अनुभव करना चाहे और इस युक्तिका सहारा लेगा कि पापी कौन है, मैं उसका अनुभव करूँगा, तो वह भी इसका पार देख लेगा। उसके सारे पाप समाप्त हो जायँगे। देखो, चाहे कितना बड़ा पापी हो, गहरी नींद तो उसे भी आती होगी। जब नींद निषेध नहीं कर रही है, तो फिर उसे स्वरूपकी ओर जानेका निषेध कौन कर सकता है? अधिकारित्व, अनधिकारित्व अन्यके विषयमें होता है, अनात्माके विषयमें होता है। आत्माकी ओर जानेमें अधिकारित्व और अनधिकारित्व नहीं होता। अपना अनुभवकरनेके लिए सभी अधिकारी हैं। नहीं तो फिर, वही प्रश्न करो कि अधिकारी कौन होगा? मैं। अनधिकारी कौन होगा? मैं। अतः पहले 'मैं' का पता करो, उसके बाद अधिकारित्व और अनधिकारित्वका विचार कर लेना। समाजमें अन्तःकरण-शुद्धि और अधिकारित्व-अनधिकारित्वकी जो बातें फैली हुई हैं, उनकी भी परवाह छोड़ दो। यदि तुम्हें लगता है कि वे जरूरी हैं, तो बादमें कर लेना। पहले यह जानो कि वह करनेवाला कौन है, जो बादमें करना चाहता है? जैसे ही तुम किसीका आलम्बन लोगे, तुरन्त अनात्मचिन्तन शुरु हो जायगा। सहारा लेनेवाला जो परिच्छिन्न मैं है, वह अपनेको अपरिच्छिन्न अनुभव करनेमें बहुत देर कर देगा।

केवल अपना अनुसन्धान करो। अनु का अर्थ है– जैसा है, वैसा और सन्धान का अर्थ है– उधर ध्यान देना। अनुसन्धान करना माने स्वयं रहना। जिसे तुम छोड़ नहीं सकते, वही तुम हो। जिसे तुम छोड़ सकते हो, वह तुम नहीं हो। जब तुम किसी साधनादिका सहारा लोगे तो वह अध्यारोप होगा, तुम्हें उसका अपवाद भी करना पड़ेगा। वह अध्यारोप-अपवाद करनेवाला फिर परिच्छिन्नताको प्राप्त हो जायगा। बिना किसी अध्यारोपके न तुम सोच सकते हो और न बोल सकते हो। अध्यारोपका सहारा लेने पर तुम्हें अपना स्पष्ट बोध नहीं होगा। अनात्माके द्वारा आत्माका अनुभव नहीं होता, आत्माके द्वारा ही

आत्माका अनुभव होता है। **'आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्येत्'**– यह केवल अपनेपर ही ध्यान देना है, और कहीं नहीं। अपनेपर विचार करोगे तो तुम्हें अपने बारेमें परोक्ष समझ आ जायगी; परन्तु वह अनात्मासे युक्त होगी। विचारका भी अर्थ यही है– विपरीत चार अर्थात् जो दृष्टि बाहरकी ओर जा रही है, वह उससे विपरीत दिशामें चलने लगे। अपनी ओर ध्यान देनेका नाम विचार है। बौद्धिक उहापोह, अनुमान, अन्दाज और Negative Thinking करना विचार नहीं है। श्रुति कहती है कि आत्माका ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। इन तीनोंको मैं एक वाक्यमें समाहित कर रहा हूँ कि अपनी ओर ध्यान दो। 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' की भी परवाह छोड़ दो, 'नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं' की भी परवाह छोड़ दो। केवल अपनी ओर ध्यान दो। श्रवणसे निश्चय होता है। मननसे निर्णय होता है और निदिध्यासनसे विपर्ययकी निवृत्ति होती है। यह सब केवल अपनी ओर ध्यान देनेमात्रसे हो जायगा। उससे निश्चय भी हो जायगा, निर्णय भी हो जायगा और विपर्यय भी मिट जायगा। दूसरे शब्दोंमें ऐसे कह सकते हैं कि स्वयंतामें स्थिति हो जायगी। तुम अद्वैतरूपसे स्वयं रह जाओगे।

मनुष्यमात्रका यह सर्वप्रथम कार्य है कि वह अपना अनुभव करे, केवल अपना अनुभव करे, वह भी बिना किसी सहारेके। आत्मेति बस, ओमिति बस। ॐ के बाद इति। यह नहीं कि इसके बाद कुछ अध्यारोप करो। यदि तुम श्रद्धासे, विश्वाससे भी कुछ मान लोगे, तो जो मान रहा है, उसके साक्षात्कारमें बाधा पड़ जायगी। अतः न कुछ मानो और न किसीपर श्रद्धा करो अर्थात् किसी अन्यको स्वीकृति ही मत दो। 'आत्मनि आत्मना आत्मानम्' का यही अर्थ है कि सीधे-सीधे अपनी ओर ध्यान दो।

'मैं' किसे कहते हो? 'मैं' के साक्षात्कारके लिए विचार करो कि 'मैं' माने जो न 'यह' है और न 'वह' है। 'यह' माने प्रत्यक्ष और 'वह' माने परोक्ष। जो न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष है और न अपरोक्ष है– वह 'मैं' है। यदि ऐसा अनुभव करते हो, तो साक्षादपरोक्ष हो जायगा। 'मैं' माने न ऐसा और न वैसा, बस, स्वयं जैसा। कठोपनिषद्में है– 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यम्।' अस्ति, है मात्र। जैसे आत्मेति, ओमिति। ऐसे ही अस्तीति, है बस। यदि तुम 'है' मात्र पर ध्यान दो, तो तुम्हें आत्मसाक्षात्कार हो जायगा।

श्रुतियोंमें आत्माके बोधके लिए बहुत संकेत किये हुए हैं; परन्तु तुम

उनको विशेषण मान लेते हो। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**– यह मैं का ही परिचय है। सत्यका अर्थ होता है– है, बस। चित्‌का अर्थ है– जानता है, बस। अनन्त माने सब समाप्त। जो है, वही जानता है और वही अनन्त है। परन्तु तुम शब्द पकड़ लेते हो कि मैं सत्य हूँ, अनन्त हूँ। ये शब्द निर्विशेषताको लखाते हैं और तुम उसमेंसे विशेषता निकाल लेते हो। श्रुति है– 'यत्र नान्यत् विजानाति'– जहाँ अपनेसे पृथक् कुछ नहीं जानता अर्थात् अपनेको जानता है। यह नहीं कह सकते कि मैं अपनेको जानता हूँ। यत्र– बृहत्तामें। जिस बृहत्तामें अपनेसे पृथक् कुछ अनुभवमें नहीं आता, वह 'मैं' है। दूसरी श्रुति कहती है– 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्।' जिस बृहत्तामें केवल मैं ही हूँ। एक श्रुति है– अणोरणीयान् महतोमहीयान्।' तुम शब्दोंसे कल्पना कर लोगे कि वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और महान्‌से भी महान् है। इन्हें विशेषण मानकर विचार करनेसे आत्मबोधसे वंचित रह जाओगे। श्रुतिका अर्थ यह है कि वह ग्रहण नहीं हो सकता। जो ग्रहण कर रहा है और जो ग्रहण हो रहा है, ये दोनों जहाँ प्रकाशित हो रहे हैं, जो इनकी कल्पनाका अधिष्ठान है, वह तुम हो।

तैत्तिरीय श्रुतिमें है– 'आनन्दो ब्रह्म।' आनन्द ही मैं है। केवल आनन्द, न भोक्ता और न भोग्य। यदि तुम ठीक अभिप्राय ग्रहण करते हो, तो तुम्हें इसका साक्षात्कार हो जायगा। श्रुति 'आनन्द' शब्दका प्रयोग करती है, 'सुख' शब्दका प्रयोग कम करती है।

श्रीकृष्णने अपने 'मैं' का जो परिचय दिया है, वही हमारे 'मैं' का परिचय है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' न मैं अमृत हूँ और न मृत्यु हूँ; न मैं सत् हूँ और न असत् हूँ। क्या बचा? मैं। न मैं मिलता हूँ, न बिछुड़ता हूँ। कहाँ इशारा हुआ? श्रुति इस तरहसे अभेद बोध कराती है। मैं आनन्द हूँ तो लोग इसका अर्थ यह लगायेंगे कि आनन्दसे ही सब योगक्षेम होता है। उनका ध्यान योगक्षेमपर ही रहता है।

लोग पूछते हैं कि आत्मज्ञान होनेके बाद हमारा व्यवहार तो ठीक चलेगा न? उसमें कोई बाधा तो नहीं पड़ेगी? हम कह रहे हैं कि व्यवहार कौन करेगा– इसका पहले पता तो कर लो, उसके बाद व्यवहारादिका प्रश्न कर लेना। तब तुम-ही-तुम रहोगे। कुछ लोग यह प्रलोभन देते हैं कि जब तुम्हें स्वयंका परिचय हो जायगा, तो देह और मन दोनों स्वस्थ हो जायँगे। जो आत्मज्ञान इसतरहके प्रलोभनोंसे होगा, वह स्पष्ट नहीं होगा; क्योंकि दृष्टि देह

और मनकी स्वस्थतापर है अर्थात् तुम आत्मज्ञानका फल चाहते हो। आत्मज्ञानका कोई फल नहीं होता और न आत्मज्ञान स्वयं किसीका फल है। न आत्मा किसीका हेतु है और न ही किसीका फल है। स्वयंताके बोधके बिना तुम अन्यताको कैसे मिटा सकते हो? अद्वैतके बिना द्वैत कैसे समाप्त हो सकता है? तुम भले द्वैतका निषेध करते रहो; परन्तु जबतक निषेधके अधिष्ठानका बोध नहीं होगा, तबतक द्वैतका सम्यक् निरास नहीं हो सकता।

भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें एक श्लोक है–

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्
तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा। (भागवत 11-28-21)

जो न पहले था, न बादमें रहेगा और मध्यमें भी केवल वाणीका विलासमात्र है। जैसे, घड़ा पहले नहीं था, बादमें नहीं रहेगा और मध्यमें भी वह केवल शब्द है, फिर उसके विषयमें इतने चिन्तित क्यों हो? जो सबको निरन्तर जान रहा है, पहले उसका पता करनेका प्रयास करो। 'किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।' क्या अच्छा है, क्या बुरा है; कितना अच्छा है, कितना बुरा है; क्या ठीक है, क्या गलत है; कितना ठीक है, कितना गलत है; क्या धर्म है, क्या अधर्म है; क्या उचित है, क्या अनुचित है; क्या साधन है, क्या असाधन है– ये सब व्यर्थ हैं। क्योंकि यह विवेक द्वैतमें किया जाता है; जबकि द्वैत अवस्तु है। है ही नहीं। 'वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च'– जो मनके द्वारा सोचा जाता है और जो वाणीके द्वारा बोला जाता है, वह सब झूठ है। भागवतमें यह निर्णय दे दिया गया है। वस्तुतः यह भी अनात्माको स्वीकारकरके ही कहा गया है। 'आत्मनि आत्मना आत्मानम्'– का अर्थ है कि जगत् सत्य है या मिथ्या है– इस अनात्मचिन्तनको छोड़कर अपना अनुभव करो।

सुषुप्ति द्वारा आनन्दानुसन्धान

'आत्मनि आत्मना०' तो मैंके अनुभवका सीधा उपाय है। यदि तुम्हें सहारा लेना ही हो, तो सुषुप्तिके अनुभवका सहारा ले लो। बुद्धिका सहारा मत लेना। गहरी नींदसे उठकर सबको यह पता चलता है कि मैं सुखसे सोया और वहाँ कुछ नहीं था। इस जाग्रत अवस्थामें तुम उस सुषुप्ति अवस्थाके अनुभवको याद करो। याद सदैव अनुभवके बाद ही आती है। ध्यान दो कि वहाँ केवल तुम

थे, और कुछ नहीं था। इसलिए अपनेको पहचानना सरल हो गया। वहाँ दूसरा कोई नहीं था।

१. सुषुप्तिमें तुम थे अर्थात् अस्तित्व था। क्या अस्तित्व और मैं में कोई अन्तर था? नहीं अर्थात् तुम ही अस्तित्व हो। २. वहाँ कुछ नहीं था– इस बातको तुम ही तो जान रहे थे अर्थात् तुम चित् हो। ३. वहाँ शान्ति थी, सुख था। ऐसा सुख कि प्राण भी रुक जायँ। उस सुखमें और तुममें कोई अन्तर नहीं था अर्थात् तुम ही आनन्द हो। ४. वहाँ कोई सीमा नहीं थी इसका अर्थ है कि अनन्तता थी। क्या उस अनन्ततामें और तुममें कोई अन्तर था? नहीं था अर्थात् तुम ही अनन्त हो। ५. तुम कहते हो कि वहाँ न मैं ऐसा था और न वैसा था, कोई विशेषता नहीं थी अर्थात् निर्विशेषता थी। तुममें और निर्विशेषतामें कोई अन्तर क्या तुम्हें अनुभवमें आया था? नहीं, तो तुम्हीं निर्विशेष हो। ६. वहाँ तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं था अर्थात् तुम अद्वैत हो। सुषुप्तिका अनुभव सबको है। क्या अब तुम्हें 'मैं' का परिचय हो गया? यदि तुम सहारेसे समझना चाहते हो, तो तुम्हें देर जरूर लगेगी। तुमने सुषुप्तिका सहारा पकड़ा है। इसमें अनात्माका अध्यारोप तो होगा ही कि तुम सत्-चित्-आनन्द निर्विशेष अनन्त अद्वय हो। अब तुम इसका ध्यान करो। और बताओ कि क्या सत्, चित् आनन्द अलग-अलग हैं या तुम्हीं हो? तुम ही हो। अब इन शब्दोंको हटा दो और तुम्हीं हो– यह अनुभव करो। सत्, चित्, आनन्दादि शब्दोंको उठाओगे, तो अनात्मामें लग जाओगे। अपनी ओर ध्यान नहीं जायगा, शब्दोंकी ओर ध्यान चला जायगा अथवा उनके अर्थोंकी ओर चला जायगा। जबकि ध्यान तो उसके इशारेपर जाना चाहिए। 'मैं हूँ'– इसका इशारा कहाँ है? यह 'मैं' को पहचाननेकी युक्ति है।

यदि तुम ऐसा ध्यान करते हो, तो तुम्हारा अहंकार उपशान्त हो जायगा। यदि तुम्हारे मनमें कामनाएँ, इच्छाएँ, असन्तोष है; परिच्छिन्नताका, दुःखका अनुभव है, प्रमाद, विषमता, विकारादि हैं, तो समझ लो कि मिथ्या अहंकार मौजूद है। सुषुप्तिमें जो मैं होता है, क्या उसमें आधि, व्याधि अथवा उपाधिका अनुभव है? ये सब मिथ्या अहंकारमें ही होते हैं। 'अहंकाररस्य दृश्यन्ते नात्मनः।' ध्यानके द्वारा अपना अनुभव करनेपर अहंकारकी निवृत्तिरूप घटना घटेगी और दूसरा, अविस्मृति जीवनमें आ जायगी। फिर तुम्हें स्मरण नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि तुम्हीं अविनाशी हो। 'अविस्मृति' बड़ा विलक्षण शब्द है– न स्मृति, न विस्मृति। विस्मरण माने भूलना और स्मरण माने याद करना। अविस्मृति माने न

भूलना। क्या ऐसी कोई स्थिति हो सकती है? केवल आत्माके बारेमें ही यह स्थिति हो सकती है, अन्य किसीके बारेमें नहीं। तब अपना अनुभव निरन्तर बना रहेगा। न अहंकार पृथक् रहेगा, न इच्छाएँ। मात्र आत्मसन्तुष्टि, आत्मतृप्ति।

आनन्द ही द्रष्टव्य-मन्तव्य-निदिध्यासितव्य है।

सारे अध्यात्म शास्त्रोंमें, सारे दर्शनोंमें, सारे विचारशास्त्रमें, सम्पूर्ण जीवनोंके अध्ययनमें केवल चार प्रश्न ही प्रतिष्ठित हैं। यदि उनके समाधान मिल जायँ, तो जीवनकी सम्पूर्ण समस्याएँ हल हो जायँगी। हम कुछ भी क्यों करते अथवा सोचते हैं? इन प्रश्नोंका जिज्ञासापूर्वक अनुसन्धान करनेपर यही अनुभव होता है कि सुखके लिये ही ये सब किया जाता है। सब लोग सुख विषयोंमें, इदम्में ही ढूँढ रहे हैं; क्योंकि उन्हें वास्तविक सुखका पता नहीं है। उन्हें क्षणिक सुख मिलता है। क्षणिक सुख दुःख ही होता है। एक क्षणके लिये सुखकी प्रतीति हुई, उसके पूर्वमें भी दुःख था और उत्तरमें भी दुःख मिलता है और वह सुखकी प्रतीति भी विषयके ही पराधीन होती है। तो स्पष्ट हो गया कि वह दुःख है। परन्तु दीर्घकालसे अभ्यास होनेके कारण उसके प्रति सुखकी भ्रान्ति दृढ़ हो गई है। सबको यह भ्रम भी है और परम्परामें यही बताया जा रहा है। अनुकूलताके अनुसन्धानमें व्यक्ति वास्तविक सुखको भूल गया।

किसीको अपना परिचय भी नहीं है कि मैं कौन हूँ। यदि यह प्रश्न किया जाय कि– 'सुख कौन प्राप्त करना चाहता है?' तो वे उत्तर देंगे कि 'मैं।' परन्तु उन्हें यह पता नहीं है कि वे 'मैं' किसे कह रहे हैं? व्यवहार-दशामें सब इस मनुष्यकी आकृतिको ही 'मैं' कहते हैं। व्यक्ति कहता है कि 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं ध्यानी हूँ।' यह शरीरके लिये तो नहीं कहा जा रहा है; क्योंकि शरीर तो ज्ञानी, ध्यानी हो नहीं सकता। शरीर स्वस्थ है; परन्तु वह अपनेको दुःखी महसूस कर रहा है, तब वह मैं किसे कह रहा है? मैं का परिचय नहीं है, केवल बिना सोच-समझे एक प्रवाहमें सब बह रहे हैं। उसी प्रवाहमें सुख-दुःख आ रहे हैं। दुःख निरन्तर सबको समझा रहा है, दिशा-निर्देश कर रहा है; परन्तु सब उसको टालते जा रहे हैं। यही मूर्खता है, मूर्च्छा है। लोग यही कहते हैं कि मुझे कंचन, कामिनी, कीर्ति चाहिये। वे यह नहीं कहते कि सुख चाहिए। अर्थात् सुख विषयपर इतना आरोपित हो चुका कि वे सब विषयको ही सुख मानने लगे हैं। यदि वे विचार करें तो तुरन्त सावधानी आ जायगी। विचार न करनेके कारण ही सुखके भ्रमका प्रवाह

चलता रहता है। जो लोग धन, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री-पुरुष, सुविधाएँ आदिमें सुख मानते हैं और उन्हींको प्राप्त करनेके प्रयासमें लगे रहते हैं, उन्हें सन्तोष नहीं मिलता। तब उन्हें विचारशील कैसे कहा जाय? तुम कुछ भी क्यों करते, बोलते और सोचते हो? दूसरा ज्वलन्त प्रश्न है कि कुछ भी कौन करता है? यह 'क्यों' से भी पूर्व का प्रश्न है। पहले करनेवालेका पता होना चाहिए, उसके बाद ही 'क्यों' का उत्तर ढूँढना चाहिए। वह कौन है, जो जीवन जी रहा है? वह कौन है, जो व्यक्त हुआ है और कुछ समय बाद अव्यक्त हो जायगा? वह कौन है, जो कुछ भी चाहता है? वह कौन है, जो कुछ भी विचार कर रहा है? बोध किसे होगा? भक्ति कौन करेगा? योगाभ्यास कौन करेगा? किसी भी लक्ष्यको कौन प्राप्त करेगा? लक्ष्य बादमें है, पहले लक्ष्य प्राप्त करनेवालेका परिचय तो प्राप्त करो। उस पुराण-पुरुषका, अनादिपुरुषका पहले पता करो। तुम्हें यही अनुभव होगा कि वह तुम्हीं हो। सृष्टिके होनेसे पूर्व तुम थे। सृष्टिके होनेके बाद तुम हो? यदि तुम नहीं होते तो सृष्टि हुई है– यह पता नहीं लग सकता था। अनादि कौन है? मैं। अनन्त कौन है? मैं। सृष्टि तो आती और जाती है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति– ये अवस्थाएँ हमारे सामने आती हैं ओर चली जाती हैं। मोक्ष किसका होगा? मेरा। ज्ञान कौन प्राप्त करेगा? मैं। इस आदिपुरुष, पुराणपुरुषका पता किये बिना ही सब संसारमें प्रवृत्त हैं अथवा निवृत्त हैं। वैराग्य किसे होगा? मुझे। परमात्माको कौन मानेगा, 'मैं'। 'मैं' के परिचयके बिना ही ये अध्यारोप किये हुए हैं कि धर्म करो, सत्कर्म करो, भगवान्‌को प्राप्त करो, योगाभ्यास करो।

जीवनके उदयसे पूर्व कौन था और जीवनके पश्चात् कौन बचेगा? जीवन रहते हुए सबका साक्षी कौन है? ये आदिप्रश्न हैं। कोई भी आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक बात हो, उससे पहले 'मैं' मिलेगा। लोग कहते हैं कि हम भ्रमकी निवृत्तिमें लगे हुए हैं, अज्ञानकी निवृत्तिमें लगे हैं; परन्तु यह तो बताओ कि किसका अज्ञान निवृत्त करना चाहते हो? मुक्ति किसे चाहिए? सबसे पहले 'मैं' आता है। 'यह' को कौन जानेगा? 'मैं'। 'वह' को कौन जानेगा? मैं। 'मैं' के बिना यह और वह सिद्ध नहीं हो सकते। अच्छे-बुरे के चक्करमें न पड़ो, अच्छे-बुरेको कौन जानता है, उसे देखो। जब मूल बात ही छोड़ दी गयी तो आगे सब गलतियाँ ही होंगी। अहं माने 'न हन्यते न हीयते।' अहंका अर्थ है– जो कभी मिटता नहीं है अर्थात् अविनाशी। सब हमारे सामने

मिट रहा है, सृष्टि, स्थिति, प्रलय हमारे सामने हो रहा है। मैं का परिचय नहीं है और आगेके प्रश्न पूछे जा रहे हैं तो सब उत्तर गलत होंगे; इसलिये किसी भी उत्तरसे किसीको सन्तोष नहीं हो रहा है। हर उत्तरसे प्रश्न निकलते हैं। क्या कोई ऐसा उत्तर है, जिसमेंसे प्रश्न ही न निकले? भागवतमें स्पष्ट कह दिया गया है कि द्वैत है ही नहीं, फिर तुम ठीक-गलतका विवेक क्यों कर रहे हो? द्वैतके न होनेका सबसे बड़ा प्रमाण है– परिवर्तनशीलता, विनाशित्व। सब विनाशी वस्तुओंका विचार कर रहे हैं और अविनाशी वस्तुपर किसीका ध्यान ही नहीं है। जो अभी एक प्रकारका है और थोड़ी देरमें अन्य प्रकारका; उसका चरित्र तुम कैसे पता करोगे? जो वस्तु आज अनुकूल है, कुछ दिनों बाद वही प्रतिकूल हो जाती है, तो क्या तय करोगे? देश, काल और आकारके बदलते ही सब बदल जाता है।

इस देहके आकारको 'मैं' कहते हैं। परन्तु जब मनोराज्य अथवा विचार करते हैं, तब किसे 'मैं' कहते हैं? स्वप्नमें यह शरीर तो शैय्यापर पड़ा होता है; परन्तु हम व्यवहार करते रहते हैं। वहाँ जाग्रतकी तरहसे ही सब सत्य लगता है, सुखी-दुःखी भी होते हैं, तब मैं किसे मान रहे होते हैं? जब तुम्हें गहरी नींद आती है, तब तुम न तो जाग्रदावस्थावाले रहते हो और न स्वप्नावस्थावाले, वहाँ फिर क्या रहते हो? सुषुप्तिमें हम होते तो हैं; परन्तु क्या होते हैं? सब जगह विवेक किया जाता है; परन्तु 'मैं' का विवेक नहीं किया जाता।

'मैं' के परिचयके बिना योग, भक्ति, ज्ञान भी सम्यक् नहीं हो सकते। तब तुम भगवान्‌को भी मानोगे, तो वह भी कल्पित ही होगा। वास्तविक भगवान् कौन हैं? वास्तविक सुख क्या है? यह गलत है अथवा ठीक है– इसको जाननेवाला कौन है? किसके प्रकाशसे सारा जगत् प्रकाशित है? पहले उसे देखो, जगत्‌को बादमें देखना। सब जगत्‌को देखनेमें लग गये, उस प्रकाशकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। किसके प्रकाशसे भगवान् प्रकाशित होते हैं? भगवान्‌के बारेमें जो हमारी कल्पनाएँ हैं, विचार हैं, वे किससे प्रकाशित होते हैं? किसके अस्तित्वसे सबके होनेका ख्याल होता है? वह कौन है, जिसमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी कल्पना की जाती है? सारे दर्शन शास्त्रोंकी कल्पना किसमें की जाती है? यदि उसका पता नहीं है, तो बाकी जितनी जानकारियाँ हैं, वे असंगत ही होंगी। अभी हम जो विचार कर रहे हैं, वह कौन है? निष्कर्ष निकालनेवाला कौन है? कोई भी साधना, भावना, तप, क्रिया करनेसे पहले

करनेवालेका पता होना आवश्यक है। यदि कोई प्रश्न करे कि 'मैं' के बोधसे क्या लाभ होगा? तो पहले लाभकी इच्छा करनेवाला कौन है, उसका पता करो।

हमने 'मैं' के तीन रूप बताये हैं– जाग्रदावस्थावाला आधिभौतिक मैं, स्वप्नावस्थावाला आधिदैविक मैं और सुषुप्तावस्थावाला आध्यात्मिक मैं। इसे क्रमशः व्यावहारिक, प्रातिभासिक और आध्यात्मिक 'मैं' भी कहते हैं। वेदान्तके ग्रन्थोंमें व्यवहारिक मैं को व्यवहारिक सत्ता और प्रातिभासिक मैं को प्रातिभासिक सत्ता कहा गया है। अभी एक मैं और है– पारमार्थिक मैं, जो जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्तिकी उपाधियोंसे मुक्त है। हमें व्यवहारिक और प्रातिभासिक मैं का भी पूरा ज्ञान नहीं है, आध्यात्मिक मैं का तो ज्ञान है ही नहीं, तब पारमार्थिक मैं का कैसे अनुभव हो? जीवनकी मूलभूत आवश्यकता है कि हमें अपना परिचय होना चाहिए, नहीं तो जीवन ठीकसे नहीं जिया जा सकता, चाहे कितनी भी योजनाएँ और व्यवस्था बना ली जायँ।

तुम्हें आनन्द चाहिए– ऐसा नहीं है, अपितु तुम्हीं आनन्द हो। आनन्द तुम्हारा परिचय है। हर व्यक्तिको आनन्द चाहिए अर्थात् 'मैं' चाहिए। उससे भी सूक्ष्म बात है कि वह आनन्द किसे चाहिए? वह कौन है, जो दुःख नहीं चाहता है? श्रद्धा, जिज्ञासा, मुमुक्षा किसे होती है? अधिकारी-अनधिकारी कौन है– इसपर विचार न करके सब अधिकार-अनधिकारपर विचार कर रहे हैं। जिज्ञासा किसे होती है? इसका पता किया नहीं और जिज्ञास्यका चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। विचार कौन करता है– इसका पता नहीं है और विचार करना शुरु कर दिया। आधि-व्याधि किसे हो रही है– इसका पता किये बिना रोग-निवृत्तिमें लगे हुए हैं, विकारोंकी निवृत्तिमें लगे हुए हैं। संसार किसे प्रतीत होता है– इसका पता किये बिना संसारपर विचार कर रहे हैं। योगवासिष्ठमें एक ही प्रश्न बार-बार किया गया है और हर बार अलग-अलग युक्तिसे उसका उत्तर दिया गया है। जबतक वास्तविकताका पता नहीं है, तो एक प्रश्नके अलग-अलग दृष्टिसे अलग-अलग उत्तर होंगे। सुखकी दृष्टिसे उसका उत्तर कुछ और होगा, जीवनकी दृष्टिसे कुछ और, अर्थकी दृष्टिसे कुछ और, समाज और देशकी दृष्टिसे कुछ और तथा परिवारकी दृष्टिसे कुछ और उत्तर होगा। परन्तु यह समाधान नहीं है।

तुम सुख चाहते हो। तुम माने क्या? पता करो। श्रुतिपर ध्यान दो। बृहदारण्यक श्रुति कहती है– 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

निदिध्यासितव्यः।' मैं निश्चयसे, दावेसे कहती हूँ, सम्पूर्ण विचार करके निर्णय देती हूँ, अनन्तकालसे निष्कर्षकी दृष्टिसे कहती हूँ कि आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेयोग्य है। आत्मा माने मैं। 'मैं' के बारेमें ही तुम्हें जिज्ञासा करनी चाहिए। वह कौन है, जो कथा सुन रहा है? वह कौन है, जो कथा कर रहा है? 'मैं' की जिज्ञासा करो। यहाँ श्रुतिके 'द्रष्टव्य' पर विवेचन किया जा रहा है। इसे निषेधात्मक ढंगसे ऐसा कह सकते हैं कि अनात्माका विचार नहीं करना चाहिए, अनात्माका दर्शन नहीं करना चाहिए, अनात्माके बारेमें श्रवण नहीं करना चाहिए, अनात्मा के बारेमें चिन्तन नहीं करना चाहिए और अनात्माका ध्यान नहीं करना चाहिए। 'मैं' से पृथक् जो कुछ भी है, वह अनात्मा है। यदि ईश्वर भी मुझसे पृथक् है, तो वह भी अनात्मा है। सारे अध्यारोप, मान्यताएँ अनात्माके अन्तर्गत हैं।

जैसे कहा जाय कि उधर ध्यान मत दो, तो वह प्रश्न करेगा कि तब किधर ध्यान दूँ? जब कहा जाय कि तुम विषयकी ओर ध्यान मत दो, तो विषयकी ओर ध्यान न देना ही अविषयकी ओर ध्यान देना है। नेति-नेतिकी प्रक्रियामें इसप्रकारसे लक्षित कराया जाता है। ओमिति प्रक्रियामें द्रष्टव्य का अर्थ है कि आत्माका ही साक्षात्कार करना चाहिए। कैसे करें? आत्माके श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे ही उसका साक्षात्कार करो। द्रष्टव्यका अर्थ है– आत्माकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए। जिज्ञासापूर्वक ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। पहले तो यह कहा कि अनात्माका दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं करना चाहिए। उससे क्या होगा? जब हम उसके बारे में सुनेंगे नहीं, सोचेंगे नहीं, बोलेंगे नहीं, कुछ करेंगे नहीं , तो एक शान्त स्थिति आ जायगी। वह हमारी स्वाभाविक स्वरूपस्थिति है। यदि तुम यह समझ सकते हो, तो बहुत अच्छा। नहीं तो दूसरी प्रक्रिया है– आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। परन्तु आत्माके बारेमें कुछ पता नहीं है, मैंके बारेमें पता नहीं है।

जो लोग देहको 'मैं' मानते हैं, वे उसीके बारेमें श्रवण-मनन करते रहते हैं कि देहको स्वस्थ रखें, सुविधा-व्यवस्था करें; जबकि वह मिथ्या है, झूठ है, परिवर्तनशील है, अनित्य है। इसलिए सब व्यर्थ जा रहा है। कुछलोग प्रातिभासिक मैं की सेवामें लगे हुए हैं अर्थात् मनोरंजनमें लगे हुए हैं। अच्छा लगना प्रातिभासिक मैं की सेवा है। सुषुप्तिवाले 'मैं' पर तो दृष्टि ही नहीं जाती।

पारमार्थिक 'मैं' का पता ही नहीं है। यदि तुम ध्यान दो, तो श्रुति जिसे आत्मा कह रही है, वह पारमार्थिक 'मैं' है। पारमार्थिक 'मैं' आत्माका ही वाचक है। वास्तविक 'मैं' वही है। श्रुति व्यवहारिक, प्रातिभासिक और आध्यात्मिक 'मैं' के बारेमें तो कह ही नहीं सकती कि तुम उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। लोग कहेंगे कि पारमार्थिक 'मैं' का तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन हो ही नहीं सकता, वह तो उपलब्धिरूप है। श्रवण, मनन, निदिध्यासनका प्रयोग श्रुति आध्यात्मिक 'मैं' के लिए कर रही है। पारमार्थिक 'मैं' का अर्थ है– जो तीनों मैं में एकरूप है, अनुगत है और तीनों 'मैं' उससे व्यावृत हैं। उस पारमार्थिक 'मैं' के सबसे अधिक निकट है– आध्यात्मिक 'मैं'। अतः आध्यात्मिक 'मैं' का अनुसन्धान करना चाहिए, उसीसे पारमार्थिक 'मैं' का अनुभव हो जायगा। रमण महर्षि कहते हैं–

'भावेऽहमः सर्वमिदं विभाति लयेऽहमो नैव विभाति किञ्चित्।'

अर्थात् जब 'मैं' का उदय होता है, तभी सब प्रतीत होता है, 'मैं' के लय होते ही कुछ प्रतीत नहीं होता। जाग्रत-स्वप्नमें अहम् रहता है, तभी सब प्रतीत होता है, सुषुप्तिमें अहम्के न रहनेपर कुछ प्रतीत नहीं होता। जिससे सब प्रतीत होता है और जिसके लय होनेपर सब लय हो जाता है, तो इसी 'मैं' का ही चिन्तन करना चाहिए, जिससे सब उदय होता है, जिसमें सब लय हो जाता है। तो सबके बारेमें विचार न करके उसीका ही चिन्तन करना चाहिए। जिसके होनेपर सर्व दीखता है और जिसके न होनेपर कुछ नहीं दीखता। इसका अर्थ है कि सर्व विचार करनेयोग्य नहीं है। मैं ही सर्वके रूपमें दीखता है।

सृष्टि-स्थिति-प्रलय भी 'मैं' का ही रूप है। अतः अपना ही चिन्तन करो, अपने पर ही विचार करो तो सबका विचार अपने-आप हो जायगा। ऐसा ही श्रुतिने बताया है कि 'दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वम् विदितम्।' 'इदम् सर्वम्' पर अलगसे विचार मत करो।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत्पर विचार करो। हम कहते हैं कि जो जगत्के बारेमें विचार करनेवाला है, उसपर विचार करो। श्रुति भी यही कह रही है। रमण महर्षिने खोजकर इसे स्पष्ट कर दिया कि 'मैं' की स्फुरणाके साथ-साथ जगत्की स्फुरणा शुरु हो जाती है। 'मैं' के लय होनेपर सारे संस्कार, विचार, विकार लय हो गये। इसपर गहराईसे सोचो तो वास्तविकतापर ध्यान चला जायगा कि यह सब नहीं है, मैं ही है; क्योंकि 'मैं'

के उदय होते ही सब दीखता है अर्थात् 'मैं' ही सब रूपोंमें दीखने लगता है, विविधताके रूपमें दीखने लगता है। 'मैं' के लय होते ही सारी विविधता समाप्त। अपनी दृष्टिके अनुसार ही सब प्रतीत होता है। कुत्तेको जगत् कैसा लगता होगा, हाथीको कैसा लगता होगा? जिसे हम पाप-पुण्य कहते हैं, क्या ये पशु-पक्षी उसे पाप-पुण्य कहते हैं? कहीं भूकम्प आया, कई सौ लोग मर गये, तो क्या प्रकृतिको पाप लगा होगा? ये सब हमारी कल्पना है। अतः कल्पना करनेवाला कौन है– उसका सबसे पहले पता करो। हम सुख चाहते हैं; परन्तु सुखसे भी पहले सुख चाहनेवालेका पता करो। अपने लिए ही सब प्रिय होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अपना परिचय, अपना अनुभव पहले होना चाहिए। लोग श्रुतिसे विपरीत प्रयास कर रहे हैं। वे अनात्माके बारेमें ही जिज्ञासा कर रहे हैं, जानकारियाँ कर रहे हैं, उसीके बारेमें ही सुन रहे हैं, उसीके बारेमें ही समझ पैदा कर रहे हैं, उसीके ही परिचयमें लगे हैं और परिणाम उनके सामने है– राग-द्वेष, संघर्ष, विकार, दुःख, विनाश।

नेति-नेति वाले अर्थसे ओमितिवाला अर्थ अधिक बलवान् है। क्योंकि यदि श्रुति यह कहे कि अनात्माका श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं करना चाहिए, तो आगे वह यह नहीं कह सकती कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' यदि वह अनात्माको पहले तय कर देती तो वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कैसे होता? इसलिए वह कहती है कि आत्माका ही अनुसन्धान करो। आगे अनुभव हो जायगा कि आत्मा ही सर्व है, अनात्मा नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। श्रुतिने यह कहा ही नहीं कि अनात्माका श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं करना चाहिए; क्योंकि श्रुतिकी दृष्टिसे अनात्मा अवस्तु है, द्वैत अवस्तु है, है ही नहीं। द्वैतका चिन्तन नहीं करना चाहिए। श्रुतिके 'आत्मा' शब्द की जगह तुम अब अद्वैतके बारेमें जिज्ञासा करो, भूमाके बारेमें जिज्ञासा करो। 'तद् विजिज्ञासस्व'– ब्रह्मके बारेमें विजिज्ञासा करो और उसीके बारेमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। उसीका निश्चय करो, उसीके बारेमें निर्णय करो और उसीका अनुसन्धान करो और देखो कि तुम अद्वैत हो। आत्मा माने अद्वयता, स्वयंता, अद्वय स्वयंता। स्वयंताका चिन्तन करना चाहिए, उसीका मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। कुछ लोग जो सोचनेका विषय है, उसे करते हैं और जो करनेका विषय है, उसके बारेमें सोचते हैं। परमात्मा ध्यानसे मिलता है; परन्तु व्यक्ति उसके लिए पूजा-पाठादि क्रिया करता है और जो वस्तु परिश्रमसे मिलती है, उसके

विषयमें सोचता रहता है। धन चाहिए तो परिश्रम करना पड़ेगा और परमात्माको प्राप्त करना है तो वह किसी क्रियासे नहीं मिलेगा, उसके लिए ध्यान-चिन्तन करना ही पड़ेगा। श्रुति कह रही है कि अद्वयताका चिन्तन करो, पूर्णताका चिन्तन करो। मैं माने पूर्ण होता है– यह बात इस मन्त्रसे स्पष्ट है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस मन्त्र में 'अदः' और 'इदम्' तो दिया है, 'अहम्' नहीं दिया। यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है। यहाँ पूर्ण का अर्थ 'मैं' है। मैं ही अदः हूँ, मैं ही इदम् हूँ। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'– स्वयंताकी अद्वयतापर ध्यान जाते ही पूर्णताका उदय हो जाता है। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'– अपनी स्वयंताकी अद्वयतापर दृष्टि जाते ही पूर्ण ही शेष रहता है, हम ही शेष रहते हैं। श्रुति कहती है कि पूर्णताका, अद्वयताका ही दर्शन, जिज्ञासा, श्रवण, मनन, चिन्तन, ध्यान, निदिध्यासन करना चाहिए। इससे विपरीत होनेपर 'इदं सर्वं विदितम्' नहीं होनेवाला है। अज्ञान ही बना रहेगा, भ्रम ही बना रहेगा। जब भ्रम बना रहेगा, तो शान्ति नहीं मिल सकती। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। तो इस आत्मा शब्दके स्थानपर तुम आनन्द शब्द रखो। अथातो आनन्द विजिज्ञासा। आनन्दकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए। आनन्दके विषयमें ही श्रवण, मनन करो, उसीका ही ध्यान करो, तो तुम आनन्दी हो जाओगे। अनात्मा माने दुःख। यदि तुम दुःखके बारेमें श्रवण, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन करोगे, तो दुःख निवृत्त नहीं होगा; अपितु बढ़ जायगा। जैसा चिन्तन करोगे, वैसी ही प्रतीति होगी। तुम दुःखका चिन्तन न करो, आनन्दका चिन्तन करो। मैं ही आनन्द है, इसलिये आनन्दका ही अनुध्यान करो।

अपने परिचयके बिना क्या कर्तव्यका निर्णय हो सकता है? अतः जीवनके उदयके बाद सबसे पहली शिक्षा, सबसे पहली दिशा, सबसे पहली प्रेरणा यही होनी चाहिए कि मैंका परिचय प्राप्त करो। क्योंकि मैं के बाद जगत् आयेगा, मैं के बाद वहकी कल्पना होगी। जो वस्तु सर्वप्रथम है, उसका समाधान भी सर्वप्रथम ही होना चाहिए। श्रुतिका यही आदेश, उपदेश, निर्देश तुम सुन रहे हो कि आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो। आत्माके विषयमें ही सारे उपनिषद् केन्द्रित है, आत्माके बारेमें ही बता रहे हैं। श्रुति इसका पालन स्वयं भी कर रही है। वह आत्माके बारेमें ही मनन कर रही है,

निर्देश कर रही है, बार-बार उसके विषयमें बताकर निदिध्यासन कर रही है। केनोपनिषद्का प्रारम्भ इसीसे है। ईशावास्यका प्रारम्भ ईश से अर्थात् इसीसे है, माण्डूक्योपनिषद्का प्रारम्भ ॐ से है अर्थात् इसीसे है। सब 'मैं' से ही शुरु होता है। माण्डूक्यने तो दूसरे मन्त्रमें ही निर्णय दे दिया– 'अयमात्मा ब्रह्म।' ब्रह्म क्या है? इदं सर्वम्। अर्थात् यह आत्मा ही इदं सर्वम् है। मैं का पता लगते ही सब पता लग जायगा।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म– यह ब्रह्म सर्व है। फिर कहा– ब्रह्म आत्मा है। अर्थात् आत्मा ही सर्व है। श्रुतियोंकी एकवाक्यता हो गयी। जब आत्माके अनुभवसे सबका अनुभव हो जाता है, तो तुम फिर पृथक्-पृथक्, टुकड़े-टुकड़ेके पीछे क्यों पड़े हो? आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही आनन्द है, फिर आनन्दके लिए इधर-उधर क्यों भटक रहे हो? विषयोंसे सुखकी भीख क्यों माँग रहे हो? यदि तुम्हें पता लग जाय कि तुम्हारे घरके नीचे अपार धन गड़ा है, तो क्या फिर तुम छोटी-मोटी नौकरी करोगे? यदि तुम कहो कि समय बितानेके लिए नौकरी करेंगे, तो इसका अर्थ है कि उस खजानेसे तुम्हें सुख नहीं मिला, तुम्हारी ऊब दूर नहीं हुई। ये सब मैं को सम्यक् न समझनेके side effects हैं; इसलिये उसीका ही अनुसन्धान करो। मैं ही ज्ञेय है, मैं ही विज्ञेय है, मैं ही अनुसन्धेय है और मैं ही प्रेय है। यदि प्रेम भी करना हो, तो मैं से करो, जो स्वाभाविक है। तद् विजिज्ञासस्व। अपने अनुभवके लिए ही प्रयास करो। श्रुतिसे और रमण महर्षि के वचनसे भी तुम्हें यह स्पष्ट है कि मैं ही सर्व है। मैं के बोधके बाद सर्वका बोध हो जाता है, तो मैं का बोध ही अपने-आपमें सम्पूर्ण हुआ या नहीं? तब फिर अनात्मचिन्तनमें क्यों लगे हो? श्रुति अनात्माको मानती ही नहीं। इसलिये अपनी आत्माको अद्वय अनुभव करो।

क्या अस्तित्व दो हो सकते हैं? नहीं। जब अस्तित्व दो हो नहीं सकते और तुम अपने अस्तित्वको इनकार कर नहीं सकते, तो अपना अनुभव करनेके बाद सबका पता लग जायगा अथवा नहीं? क्या जाननेवाले दो हो सकते हैं? जाननेवाले दो नहीं हो सकते– इस बातको भी तुम जान रहे हो, तो इस जाननेवालेका परिचय मिलते ही सबकुछ जाना हुआ हो जायगा या नहीं? दूसरा कोई है नहीं। तो जो दीखता है, वह क्या है? कि कुछ नहीं। तो दीखता क्यों है? मरुभूमिका जल भी तो दीखता है, आकाशकी नीलिमा भी दीखती है, अपनी परछाई भी दीखती है; परन्तु होते नहीं हैं। क्या अनन्त दो हो सकते हैं?

असम्भव है। इसी तरहसे आनन्द भी दो नहीं हो सकते। जब तुम्हें अपने आनन्दका अनुभव हो जायगा तो एक भी इच्छा मनमें उदय नहीं होगी, तभी तो 'प्रजहाति यदा कामान्' सिद्ध होगा।

साधना और आत्मनिरीक्षण

किसी भी परिस्थितिसे, किसी भी मनोवृत्तिसे कोई भी व्यक्ति बाहर निकलना चाहे अथवा जीवन और जगत्में कोई नवीन संशोधन करना चाहे, तो उसके लिये एकमात्र उपाय है– प्रार्थना अथवा संकल्प। जिसे द्वैतकी भाषा प्रिय न हो, वे संकल्प कर सकते हैं। वेद कहता है– 'अयं में हस्तो भगवान्।' अर्थात् मेरा यह हाथ भगवान् है। हाथ माने जिससे कुछ किया जाता है अर्थात् वृत्ति। 'अयं में हस्तो भगवत्तर:।' अर्थात् मेरा यह हाथ भगवान्से भी बढ़कर है। पुरुषार्थ बिना वृत्तिके हो नहीं सकता; इसलिये हम उसके मूलरूपमें चिन्तन करते हैं। वृत्ति शास्ताका कार्य भी कर सकती है और सृष्टि-स्थिति-प्रलयका काम भी कर सकती है। वृत्तिको मन भी कह सकते हैं, प्रकाशन भी कह सकते हैं। जहाँ सूर्य रहेगा, वहाँ प्रकाश स्वाभाविक ही रहेगा। सूर्य प्रकाशस्वरूप है, उससे प्रकाश ही निकलेगा। यह उसका स्वभाव है। फूलका स्वभाव है– सुगन्ध। जहाँ फूल होगा, वहाँ चारों ओर सुगन्ध फैलेगी। इसीप्रकार प्रकाशका स्वभाव है– प्रकाशित करना। प्रकाशकी जो प्रकाशन-सामर्थ्य है, उसका नाम है– वृत्ति। वह सबको प्रकाशित करती है– सृष्टि-स्थिति-प्रलयको भी।

अनादि संकल्पसे एक व्यवस्था जगत् अैर जीवनमें दृष्ट है– दु:ख या प्रतिकूल वेदन। यह हमें निरन्तर जगानेका ही काम कर रहा है। कुसंग और सुविधाएँ– ये दो हमें सुलानेका काम कर रही हैं। ये हमारे लक्ष्यसे, अपनेसे, सच्चाईसे, न्यायसे हटाती रहती हैं। जबसे हम माताके गर्भमें आये, तबसे हमें कुसंग प्राप्त है। कुसंगसे हमें जो दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है, उसे यदि बदलना भी चाहें, तो बदल नहीं पा रहे, विवश हो गये हैं, परवश हो गये हैं। उस विवशताऔर परवशताके कारण जीवनमें शान्ति नहीं मिल पा रही है। माता-पिता, सम्बन्धी, समाजने जबरदस्ती हमारे अन्दर राग-द्वेषके, अच्छे-बुरेके संस्कार डाल दिये हैं।, जो हमारे जीवनमें स्पष्ट हैं। उससे कैसे निकलें? इसे महसूस करो और अपने स्वरूपका चिन्तन करो; परन्तु व्यक्ति अपना चिन्तन नहीं कर पाता। जबकि तुम्हारा रोम-रोम सुख चाहता है, तुम्हारे जीवनकी एक-एक चेष्टा और स्फुरणा स्वरूप परमानन्दको ही खोज रही है।

यह तुम भी जानते हो, इसे इनकार नहीं कर सकते; परन्तु फिर भी परमानन्दकी ओर अभिमुखता नहीं हो रही है। इस सच्चाईको सब जानते हैं; परन्तु माननेको कोई तैयार नहीं है। जानना बौद्धिक विचार है और माननेमें वृत्ति है। सब जानते हैं, पर उनकी वैसी वृत्ति नहीं बनती। पुराने संस्कारोंके अनुसार ही सबकी वृत्ति बनती है। विचार ऐसा हो कि वह तुम्हारी वृत्ति बना दे, तभी वह जीवनमें प्रभाव दिखायेगा, नहीं तो वह तटस्थ रहता है। अपने जीवनका निरीक्षण कीजिए कि ऐसा है या नहीं? आप उचित-अनुचितको जानते होंगे, पर उचित कर नहीं पाते। दुर्योधन कहता है कि– 'मैं धर्मको जानता हूँ; परन्तु मेरी उधर प्रवृत्ति नहीं है। मैं अधर्मको भी जानता हूँ; परन्तु उधरसे मेरी निवृत्ति नहीं है। मैं जानता हूँ कि पाण्डव मेरे भाई हैं, सद्‌गुणी हैं, मेरी दुर्भावनाका उत्तर भी सद्‌भावनासे देते हैं; परन्तु मैं उन्हें स्वीकार नहीं कर पाता। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरी दृष्टि गलत है, अयुक्त है; परन्तु मैं उसे छोड़ नहीं पाता।'

अब देखिए, केवल जानकारीसे काम नहीं चलता है। यही स्थिति हम सबकी है। हम जानते हैं कि हमें सुख चाहिए और विषयोंमें सुख नहीं है; परन्तु फिर भी हम क्षणिक सुखाभासकी प्रतीतिके लिए विषयोंके पीछे दौड़ रहे हैं। हम जानते हैं कि मैं के सिवाय कोई और वस्तु यहाँ है ही नहीं; परन्तु हम देहको नहीं छोड़ पाते, हम अपने इस प्रातिभासिक मैं को नहीं छोड़ पाते। क्या यह दुर्योधन जैसी स्थिति नहीं है? दुर्योधन और युधिष्ठिरमें कौन सही है? तो आप तुरन्त युधिष्ठिरको सही कहेंगे, उसे स्वीकार करेंगे; परन्तु जीवनमें आपने दुर्योधनको स्वीकार किया हुआ है। ऐसी स्थिति क्यों है? क्या सृष्टिमें किसीके पास इस स्थितिसे निकलनेका उपाय है? हमारे देशमें, समाजमें जगह-जगहपर सत्संग व कथाएँ हो रही हैं। क्या उसका हमारे जीवनमें कोई प्रभाव है? बचपनसे कुसंग प्राप्त है, जिसने जीवनको भ्रमित कर दिया। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं– पानीकी लकीरकी तरह, रेतमें खींची लकीरके समान और पत्थरमें खुदी रेखाके समान। दीर्घ अभ्याससे जो संस्कार पत्थरकी लकीरकी तरहसे पड़ चुके हैं, उन्हें मिटाना कठिन है। यदि आप सत्संगके संस्कार डाल देंगे, तो भी पुराने दृढ़ संस्कार काम करते रहेंगे। दोनोंमें संघर्ष चलता रहेगा। जीवन अपने संस्कारोंके परवश है। इसीको शास्त्रीय भाषामें कहते हैं कि जो कर्म किये हैं, उनका फल भोगना पड़ता है।

कर्मको संस्कृतमें क्रतु भी कहते हैं। क्रतुका अर्थ है– प्रवृत्ति, संकल्प,

यज्ञ। जो कर्म कर लिये हैं, उनका संस्कार दृढ़ हो जाता है; क्योंकि उसमें बुद्धि भी है, मनोवृत्ति भी है और चेष्टा भी है। कहा जाता है कि भोगके द्वारा ही कर्मोंका फल क्षीण-सा होता है। परन्तु ऐसा नहीं है। भोगनेपर पिछले कर्म क्षीण हो जायँगे; परन्तु नये कर्म बन जायँगे, परम्परा समाप्त नहीं होगी। कोई सत्यकी ओर चलना भी चाहे, तो भी संस्कार बाधा डालते हैं। ऐसी निराशाकी स्थितिमें क्या करें? भागवत में है– 'नैराश्यं परमं सुखम्।' अर्थात् सत्यकी ओर जानेवाले के लिए जगत्के प्रति निराशा बहुत बड़ा साधन है। जब विषयोंसे सुखकी आशा समाप्त हो जाती है, तो परमानन्दका रास्ता मिल जाता है। निराशाकी ऐसी स्थिति जब आती है, तब निरहंता भी आती है और मार्ग मिल जाता है। 'त्रिपुरा-रहस्य' पुस्तकमें आया है कि भले तुम अनादिकालसे पराधीनताका अनुभव कर रहे हो, भले दुःख और भ्रान्तियाँ तुमपर आक्रमण कर रहे हैं, तुमने ऐसे कर्म किये हैं, जिन्हें तुम मिटा नहीं सकते; परन्तु ऐसी स्थितिमें भी अपवाद है। दृश्यमें कोई बात 100% सत्य नहीं हो सकती। वह अपवाद है– प्रार्थना, सत्संकल्प और प्राणायाम। प्रार्थना और प्राणायामसे तुम अपने पूर्व संस्कारोंको शिथिल कर सकते हो और पत्थरमें पड़ी हुई उस लकीरको मिटा तो नहीं सकते; परन्तु अमृतसे भर अवश्य सकते हो, उसका अतिक्रमण कर सकते हो। मेरा अनुभव है कि हृदयसे की गयी प्रार्थना कभी असफल नहीं होती। जब-जब मैंने प्रार्थना या सत्संकल्प किया, निश्चितरूपसे सारे पूर्व संस्कारोंका अतिक्रमण हो गया।

हमें जैसी शरीराकृति मिली है, बाह्य परिवेश मिला है, हम उसे बदल नहीं सकते; परन्तु उससे असंग हो सकते हैं– प्रार्थनाके द्वारा। प्राणायाम सबके लिए सुलभ नहीं है। प्रार्थना सब कर सकते हैं। सभीके हृदयसे प्रार्थना निकलती है, बस वह व्यवस्थित नहीं है। अव्यवस्थित होनेसे उसका प्रभाव भी अव्यवस्थित ही होता है। उसे व्यवस्थित कर लो तो वह पूर्व संस्कारों और परिस्थितियोंको परिवर्तित कर सकती है। प्रार्थनासे तीव्र और शीघ्र प्रभाव होता है और प्राणायामसे प्रभाव देरसे आता है; परन्तु ज्यादा स्थायी होता है। उसी ग्रन्थमें एक और भी साधन है, जो उपनिषदों और गीतामें व्यापकरूपसे है। वह साधन है– तदीक्षण, सर्वात्मभाव या ब्रह्मभाव। तदीक्षण अमोघ साधन है। यह अद्भुत दृष्टिहै। तदीक्षणके अतिरिक्त जाग्रति, सजगता, साक्षित्व ऐसा साधन है,जो कर्म-सिद्धान्तकी अनिवार्यताको व्यर्थ करता है, हमारी पराधीनतापर

प्रहार करता है। आचार्य रजनीश, जे० कृष्णमूर्ति, स्वामी शरणानन्दजीने जाग्रतिको श्रेष्ठ साधन बताया है। वेदोंमें इसपर बहुतसे मन्त्र हैं। जाग्रति निर्गुण-निराकार साधन है। यदि जीवनमें इसका आदर किया जाय तो सारे अशुभोंका अतिक्रमण हो जाता है।

प्रार्थनासे मिलता-जुलता एक और साधन है, जो समाजमें प्रचलित है; परन्तु विकृतरूपमें। वह है– शरणागतिभाव। गीतामें है– 'ये मां प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'

जो मेरी शरणमें आता है, वह मेरी मायासे अर्थात् पराधीनतासे, मजबूरीसे, असावधानीसे, अज्ञानसे, अध्याससे तर जाता है। अर्थात् उनका अतिक्रमण कर जाता है। छान्दोग्योपनिषद्में कुछ उत्तम साधन बताये गये हैं– जैसे, आकाश-चिन्तन या संकल्पोपासना। यदि आप अपनी वृत्तिको आकाशाकार कर सकते हैं, अपनी दृष्टि अनन्तपर रख सकते हैं, तो आप परिच्छिन्नताका और उसके अनिवार्य प्रभाव दुःखका, अपने पूर्व संस्कारोंका, अपनी आदतोंका अतिक्रमण कर जायँगे। जीवनकी मूल समस्या क्या है? अनुसरण-सामर्थ्यका नष्ट होना। विवेकका लगातार अनादर होना। विवशताका, पराधीनताका अनुभव हो रहा है, तब भी परिच्छिन्नभावको लोग छोड़ नहीं पा रहे हैं, चारों ओर विपरीत वातावरण बना हुआ है, सभी तन्द्रामें हैं। उनके लिए ये साधन पर्याप्त हैं– प्रार्थना या सत्संकल्प, प्राणायाम, तदीक्षण, जाग्रति और आकाश-चिन्तन। ये साधन आप निरन्तर कर सकते हैं। ये दृष्ट्यात्मक अधिक हैं, अनुष्ठानात्मक कम। प्राणायाम अनुष्ठानात्मक है। वह सबके लिए करणीय नहीं है। हम जानते हैं कि यह उचित है, परन्तु हम वैसा कर नहीं पाते। हम जानते हैं कि यह गलत है, परन्तु हम उसे छोड़ नहीं पाते। इतनी विवशतामें व्यक्ति निश्चिन्त कैसे रह सकता है? उसीके समाधानके लिए ही ये उपाय खोजे गये हैं। ये साधन प्याससे निकले हैं।

प्रार्थना शक्तिशाली और प्रारम्भिक साधन है। प्रार्थना के बिना आप अन्य साधनोंमें जा भी नहीं सकते। प्रार्थना एक ऐसा साधन है, जिसे सभी सर्वत्र, सर्वदा कर सकते हैं, करते हैं। बाहरसे परिस्थितियाँ ठीक नहीं हैं, अन्दर मन परेशान कर रहा है, तो प्रार्थना ही एकमात्र उपाय है उस स्थितिके अतिक्रमणका। जब कोई आपत्ति आ जाती है, तो सबके हृदयसे यह प्रार्थना स्वतः निकलती है कि 'हे भगवान! कृपा करो।' प्रार्थना असमर्थता और

विवशतामें कोई मार्ग सुझा देती है और उस परिस्थितिका अतिक्रमण हो जाता है। बड़े-से-बड़े संकटमें भी प्रार्थना करनेपर वह अनिवर्चनीय ढंगसे काम करती है। प्रार्थनासे बड़े-बड़े चमत्कार होते देखे गये हैं। हम प्रार्थनाको एक वैज्ञानिक प्रक्रिया मानते हैं। सभी प्रार्थना करते हैं; परन्तु व्यवस्थित न होनेसे उसका प्रभाव नहीं हो पाता। वह साकार नहीं हो पाती। प्रार्थना निषेधात्मकके निराकरणका और विधेयात्मकके आगमनका अमोघ उपाय है। यदि यह सही विधिसे की जाय, तो यह कभी व्यर्थ नहीं होती। सही विधि क्या है? विधि है कि जिससे प्रार्थना की जा रही है, वह प्रार्थना उनतक, वहाँतक पहुँच जाय। लोकमें भी जब यदि आप किसीके पास प्रार्थना-पत्र भेजें और वह उसे न मिले, तो क्या आपकी वह प्रार्थना स्वीकार हो जायगी? यदि आप प्रार्थना कर रहे हैं और आपका मन कहीं और है, तो वह केवल शब्दोच्चारणमात्र है, प्रार्थना नहीं। कहा जाता है कि By heart, हृदयसे प्रार्थना करो तो वह अवश्य पूर्ण होती है। हृदय माने क्या? महसूस करते हुए प्रार्थना करो। आप प्रार्थना कर रहे हैं और साथ-साथ यह भी सोच रहे हैं कि कोई बाधा तो नहीं आ जायगी, प्रार्थना पूरी होगी भी या नहीं? इस प्रकार विकल्पोंको रखते हुए प्रार्थना करनेपर भी वह व्यर्थ हो जायगी। विकल्पयुक्त प्रार्थना कभी पूर्ण नहीं होती। प्रार्थनाके बारेमें इतनी सावधानीकी आवश्यकता तो है ही। प्रार्थना माने प्रकृष्टरूपसे चाहना। आपकी प्रकृष्ट माँग क्या है? बिल्कुल शुद्धरूपसे क्या चाहते हैं? उसमें विकल्प नहीं होना चाहिए। आपको अमुक चीज चाहिए, तो बस, वही चाहिए। तब आप देखेंगे कि कितनी तीव्रतासे वह साकार होती है। प्रार्थना सारे विश्वके संविधानोंका, देशके प्रशासनके संविधानोंका, जीवनके सारे संविधानोंका, परिवार और रीति-रिवाजोंके संविधानोंका अतिक्रमण कर जाती है। यह अतिशयोक्ति नहीं है, यह तथ्य है।

भगवान्‌का अर्थ है— संकल्प। 'अयं में हस्तो भगवान्।' मेरा यह प्रकाशन-सामर्थ्य ही भगवान् है। मेरा संकल्प, सम्यक् कल्पना ही भगवान् है। संकल्पसे ही सृष्टि होती है— ऐसा उपनिषदोंमें है। वेदोंमें इतनी प्रार्थनाएँ हैं कि उन्हें प्रार्थना-ग्रन्थ कह सकते हैं। प्रार्थनाको संकल्प भी कहते हैं। आप आज जैसा संकल्प करेंगे, कालान्तरमें वही आपकी नियति और प्रतीति बन जायगा। उपनिषद्‌ने बता दिया कि आप अपनी किस्मत बना सकते हैं। उसका उपाय है— क्रतु, संकल्प। आप निर्विकल्परूपसे जो कुछ भी चाहते हैं, वह साकार हो

जायगा। प्रार्थना, संकल्प इसी सिद्धान्तपर आधारित है।

छान्दोग्य कहता है कि आप कितनी प्रार्थनाएँ कर लेना, कितने ही संकल्प कर लेना, कितनी ही ज्ञान-विज्ञानकी बातें कर लेना, आपका समाधान कभी नहीं होगा; क्योंकि आपकी दृष्टि गलत है। गलत दृष्टिसे कभी सम्यक् समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक् दृष्टि क्या है? 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' सर्वं का अर्थ है— यह, वह और मैं। प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष और साक्षादपरोक्ष। सर्व ब्रह्मसुख ही है। द्वैत, परिच्छिन्नता बिल्कुल विपरीत दृष्टिकोण है, उसमें समाधान असम्भव है। इस विपरीत दृष्टिका अतिक्रमण कैसे करें? सम्यक् दृष्टि कैसे प्राप्त हो? अगला वाक्य है— 'तज्जलानिति शान्त उपासीत।' समस्त दृश्य, प्रतीति और अनुभाव्य उसीसे व्यक्त हो रहा है— ऐसा स्वीकार करो। जाग्रतमें, व्यवहारमें दृश्य कहते हैं, मनोराज्यमें, स्वप्नमें प्रतीति कहते हैं। स्वप्न और जाग्रतको एक करते हैं तो उसे प्रतीति कहते हैं— मरुभूमिके जलकी तरहसे। कारणमें उसे अनुभाव्य कहते हैं। आपके मनमें कोई स्फुरणा हुई, कहाँसे आयी? कुछ क्षण वह प्रतीत हुई और फिर लय हो गयी। वह कहाँ दीख रही थी और कहाँ लय हो गयी? जहाँसे सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है, उसका अनुसन्धान करो, तो तुम्हें उस सत्यका अनुभव हो जायगा। क्या? कि यह सब तुम ही हो। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के बाद 'आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम् है। यहाँ पूर्णता हो गयी। इसके अनुभवके लिये संकल्प करो। हम चेतन हैं और चेतनका स्वभाव है— संकल्प करना। 'क्रतुमयो अयम् पुरुषः।' प्रकाशका स्वभाव है-प्रकाशित करना। 'अथ क्रतुं कुर्वीत्।' सब परमात्मा है— इसके लिये संकल्प करो अर्थात् इसे निर्विकल्परूपसे प्रकाशित करो।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

‘आनन्द क्या है?’

जिसप्रकार ब्रह्मसूत्रमें ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ है, उसीप्रकार ‘अथातोऽऽनन्दविजिज्ञासा’ है। अब हम आनन्दकी जिज्ञासा करते हैं। हम आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं। अतः हमें आनन्दका पूर्ण परिचय होना चाहिए। पूर्ण परिचयके अभावमें आनन्दको अन्यत्र अध्यारोपित करके हम कहीं भी भटक सकते हैं। विजिज्ञासा शब्दका अर्थ है– अनुभवपर्यन्त जाननेकी इच्छा। विजिज्ञासामें जानना, समझना, पहचानना तथा अनुभव करना समाविष्ट है।

आनन्द क्या है– यह जाननेकी क्या जरूरत है? जितने भी प्राणी हैं, जीव हैं, हम-तुम सब निर्विकल्पतासे सुख ही चाहते हैं। इसलिए यह बात सर्वत्र-सर्वदा-सर्वरूपोंमें संगत है। जो वस्तु निर्विवाद है, जिसको हमारा रोम-रोम चाहता है, उसके विषयमें हम अनभिज्ञ हैं और उसे हम गलत दिशामें खोज रहे हैं। वह वस्तु हमारे जीवनमें सर्वत्र-सर्वदा कैसे अनुभवमें आए– इसपर हम विचार कर रहे हैं। ज्ञाताज्ञातमें सभी लोग सुख चाहते हैं। सुख माने अच्छा लगना, प्रियता, अनुकूल वेदन, रस, आनन्द। सबका केन्द्र आनन्द है, सबका लक्ष्य आनन्द है और वह सहज प्राप्त है। हमें लक्ष्य बनाना नहीं है। लक्ष्यको सोचना नहीं है। अपने जीवनके व दर्शनोंके अध्ययनसे यही पता लगेगा कि हमें आनन्द ही चाहिए। जीवनकी एक-एक स्फुरणा और प्रत्येक चेष्टा सुखको ही खोज रही है। सुखके विपरीत शब्द हैं– अशान्ति, दुःख, प्रतिकूलवेदन और अच्छा न लगना। सबको अशान्तिसे व दुःखसे सहजमें वैराग्य प्राप्त है। सब एक क्षणके लिए भी दुःखकी, अशान्तिकी न तो चर्चा करना चाहते हैं और न ही अनुभव करना चाहते हैं। दुःखके प्रति वैराग्य व सुखके प्रति झुकाव पहलेसे ही सबको प्राप्त है। हमें अध्यारोप नहीं करना है। हमें केवल ध्यान देना है कि हम चाहते क्या हैं? लोग यह कहते हैं कि हमें कंचन, कामिनी, कीर्ति, मनोरंजन चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं है। सब कंचन, कामिनी, कीर्ति, प्रवृत्तिके रूपोंमें सुख ही चाहते हैं।

पाणिनी व्याकरणमें कर्मका अर्थ इसप्रकार किया है– ‘‘कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म’’– कर्त्ताका जो ईप्सिततम है, वही कर्म है। कर्त्ताका ईप्सिततम क्या है– सुख। कुछ भी करनेमें सुख ही अभीष्ट है। खानेमें, पीनेमें,

मनोरंजनमें, विचारमें जो केन्द्र है, वह है– सुख। क्रिया मुख्य नहीं है, सुख मुख्य है। प्रत्येक प्राणीके जीवनका उद्देश्य है– सुख, भले ही वह जानता नहीं है। व्यक्ति विषयमें सुख मानकर, सुखका अध्यारोप करके जीता है। विषयमें सुखका अध्यारोप असुर संस्कृतिसे प्राप्त है अर्थात् एक अन्ध परम्परासे प्राप्त है। श्रुति कहती है कि ‘अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः’। जैसे– अन्धे ही अन्धेको चला रहे हैं। अन्धे वे हैं, जिन्हें अपने लक्ष्यका, अपने केन्द्रका पूरा पता नहीं है। उधर ध्यान नहीं है। वे बिना विचार किये, बिना ध्यान किये केवल प्रवाहमें बह रहे हैं। तटस्थ होनेपर प्रवाहित होनेसे रुक सकते हैं और सावधान हो सकते हैं। क्या अनादिकालसे अबतक जीवकी आनन्दकी इच्छाको, सुखके केन्द्रको कोई मिटा सका या दबा सका? नहीं। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, चाहे स्वस्थ हो या अस्वस्थ, किसी भी रूपमें हो, किसी भी परिस्थितिमें हो; उसे सुख तो अवश्यमेव चाहिए। सुखके बिना तो कोई जी ही नहीं सकता।

श्रुति, स्मृति, शास्त्र आनन्दके प्रति ही केन्द्रित हैं। उनका लक्ष्य, उनका अभिप्राय, उनका उद्देश्य आनन्द ही होता है– यह बात सर्वसम्मत और निर्विवाद है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनमें इस बातको खोज सकता है। सबका निग्रह स्थान भी यही है कि अगर ऐसा करोगे तो तुम्हें सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी। हम सबके रोम-रोममें यह केन्द्र अर्थात् सुखकी मांग ही भरी हुई है। व्यक्ति केन्द्रसे ही संचालित होता है। फिर हम इतने असन्तुष्ट क्यों हैं, इतने दुःखी क्यों हैं? जो हम चाहते हैं, उसे प्राप्त क्यों नहीं कर पा रहे हैं? यही आनन्द जिज्ञासा है। आनन्दको हम चाहते तो हैं; परन्तु यह नहीं पता कि आनन्द क्या वस्तु है? वह कैसे मिलेगा? जिसमें जिज्ञासा होती है, उसीको ज्ञान तथा दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त होती है। कौन अमृतत्वकी इच्छा करेगा? क्या हमें सुखकी इच्छा करनी चाहिए? हमारा पूरा जीवन, अन्तःकरणकी प्रत्येक स्फुरणा और प्रत्येक चेष्टा आनन्दपर ही केन्द्रित है और अनायास आनन्दको ही चाहती है। आनन्द हमारे जीवनके साथ ही सिद्ध है।

सुख क्या है? तैत्तिरीयोपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद्में आनन्दपर विचार किया गया है। परन्तु हमें हमारा अभीष्ट और हमारा ईप्सिततम नहीं प्राप्त हो रहा है। बृहदारण्यक श्रुति बताती है कि सुख किसलिए है– ‘‘आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।’’ अपने लिए ही सबकुछ प्रिय होता है।

'मैं' ही अन्तिम वस्तु और पूर्ण वस्तुसत्य है। अतः हमारा ईप्सिततम क्या हुआ— 'मैं'। सबसे अधिक हम अपनेको ही चाहते हैं। सुख भी अपने लिए ही चाहते हैं। जीवनमें सबसे अधिक 'मैं' का ही प्रयोग होता है। गीतामें भी 'अस्मद्' शब्दका प्रयोग सबसे अधिक है। अतः 'मैं' अपरित्याग लक्षण है। यह कभी ओझल नहीं हो सकता। 'मैं' ही अस्तित्व है।

जीवन-दर्शनसे, औपनिषद-दर्शनसे तथा सामान्य दर्शनोंसे यही माना गया है कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति ही इष्ट है। सबका अभीष्ट सुख या आनन्द ही होता है। दुःख व प्रतिकूलवेदन हम सब किसी भी कीमतपर नहीं चाहते— यह हमारा स्वभाव बता रहा है। हम ईप्सिततम-अनुत्तम सुख, आत्मसुख, ब्रह्मसुख, अद्वयसुखकी ही जिज्ञासा करते हैं— 'अथातो आनन्दविजिज्ञासा'। आनन्दमें भेद-भिन्नता किसीको स्वीकार नहीं है। इस विचारको अपने जीवनसे जोड़ो और अपने जीवनकी दृष्टिसे ही सुखपर विचार करो। विचारसे बौद्धिक भ्रान्ति निवृत्त होती है; परन्तु विपर्यय या अध्यास निवृत्त नहीं होता। विचारके द्वारा विज्ञानमय कोषसे असंग हो सकते हैं; परन्तु विचार द्वारा आनन्दमयकोषसे असंग नहीं हो सकते। उसकेलिए विचार और ध्यान दोनों ही चाहिए। ध्यानसे अनुभव होता है और विचारसे निर्णय हो जाता है।

मन एक ऐसा मापदण्ड है, जो गलत दिशामें ठहरने नहीं देता। जबतक सही लक्ष्यपर नहीं पहुँचेंगे, जोकि हम सबका इष्ट व अभीष्ट है, गुरु है; तबतक मन कहीं नहीं लगेगा। मनको सुख मिलते ही वह शान्त व तृप्त हो जायगा। सबको सुख-दुःखके द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। सबका निग्रह स्थान यही सुख-दुःख है। जीवन तो यही कह रहा है कि हमें सुख चाहिए, हमें कंचन-कामिनी-कीर्ति नहीं चाहिए। जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, जितनी निवृत्तियाँ हैं या जितने साधन हैं, वे सब आनन्दके लिए ही किये जा रहे हैं। उसी आनन्दको भक्तोंने परमात्मा कहा है। परमात्मा चाहिए या परमात्मासे मिलनेवाला सुख चाहिए— यह स्पष्ट होना चाहिए। कल्पित ईश्वर चाहिए या वास्तविक ईश्वर चाहिए? वास्तविक ईश्वर है— आनन्द। ईश्वर माने होता है— शास्ता। जहाँ सुख मिलता है, व्यक्ति उसीकी ओर प्रवृत्त हो जाता है।

नारद भक्ति-दर्शनमें एक सूत्रांश है— 'तस्मिन्स्तत्सुखेसुखित्वम्'। प्रेमसे

अपने सुखकी ओर ध्यान नहीं होता। अपने प्रेमास्पदको जिसप्रकार सुख मिले, ऐसा ही वह करता है, ऐसा ही वह सोचता है। इस सूत्रका 'सुखित्वम्' अपनेमें ही पर्यवसित होता है। उसके सुखमें भी हम ही सुखी होना चाहते हैं। सबके सुखका पर्यवसान आत्मसुखमें ही होता है। आत्मसुख ही हमारा इष्ट है, हमारा परमात्मा है, शास्ता है। भ्रान्तियोंके कारण हमें हमारा लक्ष्य दिखाई नहीं दे रहा है। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके दूसरे अध्यायमें एक प्रतिज्ञा दी हुई है और एक परिचय व स्पष्टीकरण दिया हुआ है कि तुम्हारा इष्ट क्या है, तुम्हारा लक्ष्य क्या है, जिसे रोम-रोम चाहता है? हर व्यक्ति अपने मूल कारणको या आश्रयको ही चाहता है। सबका मूल उपादान आनन्द है, अतः सब आनन्द ही चाहते हैं। बेहोशीमें भी वह सुखको ही चाहता है। जीवनकी प्रत्येक स्फुरणा या स्पन्दन सुखसे उदय होता है, सुखसे ही जीता है और सुखमें ही पर्यवसित हो जाता है।

जो हमारे लिए प्रयोजनीय नहीं है, उसे सेकेण्डोंमें हटा सकते हैं। जिधर सुख कल्पित किया हुआ है, मन उधर ही प्रवाहित होता है। मन सुखके बिना ठहर ही नहीं सकता। आनन्द क्या वस्तु है? आनन्द हमारी आत्मा है, हमारा इष्ट है। हमें ज्ञान प्रदान करनेवाला गुरु और शासन करनेवाला आनन्द ही है। आनन्दसे ही सृष्टि हुई है, आनन्दमें ही जीती है, आनन्दमें ही वह लय हो रही है; जबतक वह आनन्दरूप नहीं हो जाती। सृष्टि-स्थिति-प्रलय क्रम तबतक चलेगा, जबतक वह स्वयंको आनन्दरूप अनुभव नहीं कर लेगा। बाधा कोई नही है, केवल हमें यह समझ नहीं है कि जो हम चाहते हैं, वह कहाँ है? विषयोंमें, स्थानमें, कालमें ढूँढ़ा जा रहा है; परन्तु प्राप्त हो न सका।

हम सिद्ध दृष्टिपर, सर्वसम्मत दृष्टिपर विचार करना चाहते हैं और उसका ध्यान करना चाहते हैं। जिससे प्राप्त वस्तुके न मिलनेका भ्रम हट जाय और प्राप्त वस्तुपर दृष्टि चली जाय। सही दिशामें ढूँढ़ते ही मिल जायगा; क्योंकि वह हमारा स्वरूप है। लक्ष्यपर विचार और ध्यान, बस इतना ही करना है। न इसके सिवाय कुछ करना है और न कुछ ज्ञातव्य, प्राप्तव्य है।

यह पूरी प्रकृति चेतनके लिए है, आनन्दके लिए है। यह प्रकृति पुरुषके भोग और मोक्षके लिए है। भोग माने दुःख, मोक्ष माने आनन्द। यदि आप सुखकी ओर चलते हैं, चेतनकी ओर चलते हैं, तो सुख मिलेगा। यदि भोगकी

ओर, प्रकृतिकी ओर प्रवाहित होते हैं, तो दुःख मिलेगा। प्रायः यह देखा जाता है कि पुरुष प्रकृतिके लिए है, ऐसी धारणा और अनुसरण बना है, तभी सुख मिलता नहीं है और दुःख जाता नहीं है। प्रकृति और प्राकृत पुरुष-सुखके लिए है; परन्तु सही दिशा व सही समझ न होनेसे, विषयोंमें सुखकी कल्पना कर ली गई है। अतः पुरुष विषयोंके लिए भटक रहा है। उपलब्धिको ही भोग कहते हैं। भोगकी संवित्‌से भोग होता है, उपलब्धि होती है।

सुखका भोग नही होता, दुःखका ही भोग होता है। जो परम स्वतन्त्र वस्तु है, जो मुक्तस्वरूप है, उसकी ओर रुझान होनेपर प्रकृति सुखकी ओर ले जाती है। यह संसार हमारे लिए, हमारे सुख या दुःखके लिए बना है। परिवर्तनशीलताका तथ्य हमें हमारी असंगताका परिचय दे रहा है। अतः कोई बाँध नहीं सकता। परिवर्तनशीलता भी कहीं ठहरती नहीं, न ही कहीं बाँध सकती है।

जब सारी प्रकृति और प्राकृत चेतनके लिए है, हमारे लिए है, आनन्दके लिए है, मोक्षके लिए है, फिर बन्धन क्यों; फिर दुःख क्यों है? कहीं-न-कहीं अपनी भूल है। समस्त दृश्य, समस्त प्रतीति है, समस्त अनुभाव्य, सब सुखके लिए ही है, उसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं कि अद्वैतभाव ही जीवनका प्रयोजन है। 'अद्वैतभावः प्रयोजनम्'। अद्वैतभावमें सुख-दुःखकी कोई कल्पना नहीं है, जहाँ दूसरा है ही नहीं, प्रकृति भी नहीं है। अद्वैतमें चेतन-ही-चेतन है, आनन्द-ही-आनन्द है– यही प्रयोजन है सबका। यह केवल वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है, यह तो प्राणीमात्रका सिद्धान्त है, यह जीवमात्रका सिद्धान्त है। प्रत्येक कण-कणका यही केन्द्र है। समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक व्यवस्थाएँ और सभी दर्शन इसीपर केन्द्रित हैं और उनका यही आधार है। वे सब आनन्दके अनुसन्धानमें ही रत हैं। सारा चिन्तन, सारा बोलना और सारे कर्म सुखके लिए ही होते हैं। सुखके प्रति सहज ही सब समर्पित हैं। यह हमारी व सबकी सिद्ध माँग है, जिसका अनुसन्धान किया जा रहा है।

व्यक्ति भोजनके बिना कुछ महीनेतक रह सकते हैं। जलके बिना कुछ दिन रह सकते हैं। वायुके बिना कुछ मिनट रह सकते हैं। आकाशके बिना एक मिनट भी नहीं रह सकते और सुखके बिना एक सेकेण्ड भी नहीं जी सकते हैं।

बुद्धि विवेक करती है और विश्लेषण करती है। मन सबको एक करता है। हृदय संश्लेषण करता है, सबको जोड़ता है। अनुभव वृत्तिसे होता है। अनुभवका केवल साधन है– ध्यान। आनन्दकी, रसकी, सुखकी, प्रियताकी अनिवार्य आवश्यकता हर व्यक्तिको महसूस हो रही है। यह प्रतीतिक जीवन आनन्दमय होना चाहिए, सन्मय, चिन्मय व अनन्त होना चाहिए, रसमय होना चाहिए, अद्वैतभावसे युक्त होना चाहिए तथा स्वतन्त्र व मुक्त होना चाहिए– यह सबके जीवनकी सहज और शाश्वत माँग है।

आनन्दको स्थूल दृष्टिसे या बाह्य दृष्टिसे ऐसा भी कह सकते हैं कि हम सब यह चाहते हैं कि (१) हमारा बाह्य परिवेश अनुकूल हो, (२) हमारा शरीर स्वस्थ रहे, (३) हमारा मन सद्‌भावसे सम्पन्न रहे व निर्विकार रहे, (४) हमारी बुद्धि भ्रान्तियोंसे मुक्त रहे अर्थात् निर्णायक शक्ति स्पष्ट होनी चाहिए और बुद्धि प्रतिभा सम्पन्न होनी चाहिए। (५) अपनी स्वयंताका सम्यक् परिचय व अनुभव होना चाहिए। समस्त प्राणीमात्रकी यही माँग है। सारी सृष्टि और सारी सृष्टिके आविष्कार– सब मिलकर भी एक व्यक्तिको सन्तुष्ट नहीं कर सकते; क्योंकि उसे जो चाहिए, वह उसे मिला नहीं, तो सन्तोष कैसे हो सकता है? व्यक्तिको मूलमें प्यास है अनन्तसुखकी, लेकिन उसे बाह्य आलम्बनोंके द्वारा प्राप्त सुखाभासोंसे धोखा दिया जा रहा है। इसलिए उसे सन्तोष नहीं हो पा रहा है। जितना भी अधिभूत, अधिदैव व अध्यात्म (विचार, दर्शन) हैं और जितने भी उपाय किये जा रहे हैं, वे सुखके लिये किये जा रहे हैं; परन्तु वह मिल नहीं रहा है। सुख न मिलनेपर भी लोग उसमें लगे हुए हैं। अतृप्ति, असन्तोष, रोग, विकार, परिवर्तन, भय आदि यह सूचना दे रहे हैं कि आपको जो सुख चाहिए, उधर ध्यान दो और उसका पता प्राप्त करो। सांसारिक वस्तुओंमें सुख माननेपर भय-प्रलोभन, रोग, विकार, प्रतिकूलताएँ मिलती हैं और ये सब किसीको नहीं चाहिए। अनभीष्टकी प्राप्ति होनेपर भी यदि जाग्रत नहीं होते, तो यह प्रमाद है, मूर्खता है। प्रतिकूलताएँ जगानेके लिये ही आती हैं।

दुःख आनेका अभिप्राय है कि तुम गलत स्थानपर हो, गलत विचारमें जी रहे हो, उसे ठीक कर लो। प्रतिकूलताएँ दुःख भोगनेके लिए नहीं हैं। सारी प्रतीति और दृश्य गुरुका काम करते हैं और ये हमें समझा रहे हैं कि तुम्हें हममें सुखका भ्रम हो रहा है और हम तुम्हें सुख मानते हैं। जैसे, एक स्त्रीको पुरुषमें

और पुरुषको स्त्रीमें सुखका आभास होता है। अगर स्त्रीमें सुख होता, तो वह अपनेमें सुखी रहती, फिर वह पुरुषकी ओर आकृष्ट क्यों होती? अगर पुरुषमें सुख होता, तो पुरुषको किसीकी जरूरत न होती। सुख अपनेमें है या दूसरेमें है? हम सही हैं या गलत दिशामें है, इसके लिए किसीसे पूछनेकी या प्रमाणकी जरूरत नहीं है। प्रतिकूलताएँ, आधि-व्याधि, प्रतिकूल वेदनाएँ इस बातकी सूचना दे रही हैं कि हम गलत दिशामें हैं। हमें क्या चाहिए? सुख चाहिए तो वह कैसा हो? सबको सुखकी माँग सर्वदा होती है अर्थात् उसमें कालका प्रतिबन्ध न हो। सुख सब समय मिले। सुख कालसे परिच्छिन्न न हो। सुख सब जगह मिले अर्थात् वह देशसे अपरिच्छिन्न हो। सुख वस्तु-व्यक्तिके भेदसे मुक्त हो। सबसे सुख मिले अर्थात् सर्वरूप सुख हो, सर्वदा व सर्वत्र सुख मिले। सबको अविनाशी सुखकी माँग है। निरीक्षण करनेके लिए मन मिला हुआ है, जो यह बता देता है कि यह सुख अविनाशी है और यह नहीं? सर्वत्र, सर्वदा अनायास सुख मिलनेपर मन शान्त हो जायगा, अन्यथा वृत्तिका उत्थान-पतन बन्द नहीं होगा। सुखमें दूरी-देरी-भिन्नता नहीं होनी चाहिए; जिसमें दुःखका स्पर्श व स्फुरणा न हो। सुख ऐसा मिले, जो मधुरतम हो और प्रतिक्षण बढ़ता हुआ हो। सुख अनन्त होना चाहिए— ऐसा सुख प्राप्त होनेसे पहले सन्तोष नहीं होगा।

सुखका अनुभव सुषुप्तिसे प्राप्त कर लो, उधर ध्यान देनेपर पता लग जायगा। फिर वह सुख सारे जीवनमें, पूरी जाग्रदावस्थामें छा जायगा, तो मन शान्त हो जायगा। सुषुप्ति-सुख की ओर ध्यान देनेपर मन सन्तुष्ट हो जायगा। सुख ऐसा हो कि जिसका निरन्तर अनुभव होते रहना चाहिए। वह अनुभवरूप होना चाहिए अर्थात् सुखकी अविस्मृति होनी चाहिए। इसप्रकारके सुखकी प्रत्येक प्राणीको जरूरत है। लाखों उपाय करके भी इस सुखकी माँग न दब सकी, न मिट सकी, न बदल सकी, न छूट सकी और न ही मिल सकी।

यही आनन्द जिज्ञासा है, ब्रह्मजिज्ञासा है अर्थात् सबको आत्मब्रह्मसुख चाहिए। इस सुखके लिए सबके जीवनमें सबकुछ छोड़नेकी सामर्थ्य मौजूद है। विश्वके बड़े-से-बड़े कल्पित सुखका परित्यागकरके लोग सुषुप्ति-सुखके लिए चले जाते हैं। सत्ता सुखकी ही होती है, दुःखकी नहीं होती। जो सत् है, वही आनन्द है, वही चेतन है। यदि जीवनमें यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाय तो भटकाव बन्द हो जायगा। जिस सुखकी माँग सबको है, उसकी महिमा

उपनिषदोंमें है। जिसे आनन्द कहते हैं, वह हम स्वयं ही हैं। विज्ञानके आविष्कारोंके द्वारा बहुत प्रयास किया गया; परन्तु दृश्यमें सुख मिला नहीं। अनादिकालसे राजा-महाराजाओंके द्वारा, चक्रवर्ती सम्राटोंके द्वारा ढूँढ़ लिया गया, तपस्वी व भक्तोंके द्वारा भी देख लिया गया; परन्तु दृश्यमें सुख मिल न सका। वैज्ञानिकोंनें भौतिक दृष्टिसे पूरा प्रयास किया; परन्तु उन्हें सुख नहीं मिला। लोगोंने धर्मशास्त्रके अनुसार धर्मका पालन किया, अच्छी क्रियाएँ कीं, भावनाएँ बनाईं तथा सूक्ष्म विचार किये गए; परन्तु सुख नहीं मिला। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक— सभी प्रयास किये गये; परन्तु सुख नहीं मिला। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इदंमें, दृश्यमें सुख नहीं है। सुख न तो 'तत्' में है, न ही 'इदं' में है। अब अनुसन्धेय विषय है— 'मैं'। यदि 'मैं' की ओर सुख ढूँढा जाय, तो पूर्वोक्त लक्षणोंवाला सुख मिल जायगा— ऐसा सिद्ध पुरुषोंने अनुभव किया है।

गलत दिशामें ढूँढ़नेके कारण ही असफलता मिल रही है। अतः अब 'मैं' की ओर सुख ढूँढ़ो। वह सुख 'मैं' में ही प्रतिष्ठित है और 'मैं' के रूपमें ही प्रतिष्ठित है। अतः सारा अनात्मा समाप्त हो गया। अब आत्मानुसन्धान ही शेष रह गया। क्या तुम्हें अपना परिचय है अथवा जो चाहते हो, उसका परिचय है? आप आत्मानुसन्धान कीजिए। हमारे ऋषियोंका, उपनिषदोंका स्पष्ट घोष है कि वह सुख हमें मिला है और आपको भी मिलेगा। जिन्होंने उस सुखका अनुभव किया है, उन्होंने यह बताया कि हम परम सन्तुष्ट हैं, हमारी सारी इच्छाएँ निवृत्त हो चुकी हैं, हम आत्मसन्तुष्ट हैं। विषयसे सन्तुष्ट नहीं हैं। हम आत्मकाम हैं, आत्माराम हैं और हम अपनेमें पूर्ण हैं। अतः आप भी अपनी ओर ध्यान दीजिए। आपको अपनी ओर लौटानेमें कोई साधन काम नहीं देगा; क्योंकि आप तो स्वयं हैं। आपके स्वरूपमें कुछ नहीं रहता— 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति यत्र माता अमाता भवति, यत्र पिता अपिता भवति'— ऐसी परम स्थिति आपको प्राप्त है। आपको अपनी ओर लौटना ही होगा।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

आनन्द-चिन्तन

जितने भी आनन्दी पुरुष हुए हैं, विचारशील हुए हैं, ऋषि हुए हैं, उनके अनुसार परमात्मा या आत्मासे पृथक् आनन्द नहीं होता। परमात्मा कहें या आनन्द कहें या मैं कहें– समानार्थी हैं। अपनी स्वयंता ही आनन्द है, अतः हम अपनेको ही चाहते हैं। जबतक हम अपनेको अनुभव नहीं कर लेते, तबतक बेचैनी व असन्तोष शान्त नहीं हो सकता। अपना अनुभव ही आनन्दानुभव है, इसलिए 'मैं' का चिन्तन व आनन्दका चिन्तन एक ही है। सुषुप्तिमें सभी ऐसा ही अनुभव करते हैं कि उसमें केवल मैं ही शेष रहता है, बाकी सब मिट जाता है। जो अस्तित्व है, जो मैं हूँ, वही वहाँ शेष रहता है। सुषुप्तिमें सबको सुखका अनुभव होता है। सुषुप्तिके सुख व 'मैं' में क्या अन्तर है? मैं ही सुख है। सुषुप्तिमें अनन्तता, आकाश रहता है। अतः 'मैं' में और आकाशमें कोई अन्तर उपलब्ध नहीं होता है।

तैत्तिरीयोपनिषद्में और बृहदारण्यकोपनिषद्में 'आनन्द मीमांसा' दी हुई है। उसमें आनन्दका तारतम्य दिखाया हुआ है और लोक विशेषोंका वर्णन है। उसमें यह बताया गया कि मानुष आनन्द क्या है, जिसे भ्रान्तलोग सुख मानते हैं? एक व्यक्ति युवा है, पोजिटिव थिंकिंग करने वाला है, निश्चय प्रधान है, समझदार भी है, चक्रवर्ती सम्राट् है, सब प्रकारसे सम्पन्न है और कोई उसका विरोधी नहीं है। लोग उसे सुखी व्यक्ति मानते हैं। यह मानुष आनन्दका चित्रण किया गया। इस मानुष आनन्दसे भी सौ गुना सुख स्वर्गलोकमें है। उससे भी सौ गुना सुख बृहस्पतिलोकमें है– इसप्रकारसे लोकोंका वर्णन करते हुए यह कहा गया कि ब्रह्मलोकमें सबसे अधिक आनन्द है। साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि जो सुख उन सबको प्राप्त है, उतना सुख एक श्रोत्रिय अकामहतको भी प्राप्त है। औपाधिक आनन्दका जो वर्णन लोक विशेषोंके द्वारा किया गया, वह सर्व सुख कामनारहित, इच्छारहित तथा आनन्दकी संवित् व अनुभवसे युक्त व्यक्तिको प्राप्त है। जो आत्माराम है, जो आत्मकाम है, उसे वही आनन्द प्राप्त है, जो समस्त लोक विशेषोंमें कई गुना करके बताया है।

सुखमें कोई भेद नहीं होता। आनन्द निर्विशेष होता है; इसलिए उसमें तारतम्य नहीं होता है। केवल आनन्दकी महिमा, आनन्दकी मीमांसा, आनन्दका चिन्तन करनेके लिए ही ऐसा वर्णन किया गया है। आनन्दकी अनुभूति उन

लोकविशेषोंमें अधिक होती है– ऐसा हम नहीं मानते; क्योंकि आनन्दकी अनुभूति कम-अधिक नहीं होती है। सुख एक ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। सुखको न पहचाननेके कारण ही कम या अधिक सुख कहा जा सकता है। कुछ विद्वान् लोग शास्त्र जानते हैं, विवेचन कर सकते हैं, सुखके बारेमें बढ़िया लेख लिख सकते हैं, पुस्तकें छपवा सकते हैं और सुखपर प्रवचन कर सकते हैं। यह सब तबतक है, जबतक सुखका अनुभव नहीं होता। सुखका अनुभव होते ही सब शान्त हो जाता है। सुखकी प्रतीति, अनुभूति होनेपर अहंकार शिथिल हो जाता है। आनन्दमें ही अहंकार शिथिल होता है। सृष्टिमें इसके अलावा अहंकार मिटानेका अन्य कोई उपाय नहीं है। जबतक आनन्द नहीं मिलता, तबतक अहंकार प्रतीत होता है। सुखके अनुभवसे सामर्थ्यका अनुभव हो जाता है।

गहरी निद्रामें 'मैं' शेष रहता है और 'सुख' शेष रहता है। तब 'मैं सुख हूँ'– यह अनुभवमें आता है। लोकविशेषके सुखोंका तारतम्य सुषुप्तिमें समाप्त हो जाता है। कोई कामना या स्वप्न भी नहीं रहते। श्रुति जीवन्मुक्तका सुख दिखानेके लिए 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' कहती है। जो कामनाओं और विषयोंसे आहत नहीं है अर्थात् उनसे असंग है। इच्छा और कामना उसे नहीं सताती। जो तृप्त होता है और सन्तुष्ट होता है। जो अपनेको पूर्ण अनुभव करता है, वहाँ अभावका अनुभव नहीं होता है। सुषुप्तिमें सुख निर्विशेष होता है। सुषुप्तिमें कोई उपाधि नहीं, कोई विषय नहीं।

परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही प्रयोजन है। अद्वैतभाव ही प्रयोजन है। अद्वैतमें सुख-दुःखका द्वन्द्वनहीं होता, वहाँ दूसरा होता ही नहीं। कम सुखको ही दुःख कहते हैं। दुःखका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। कम सुख औपाधिक सुख ही होता है।

तत् के अनुसन्धानमें या इदं के अनुसन्धानमें सुखको ही ढूँढा जा रहा है। सुख अर्थात् आत्मा। अतः सबकुछ अपने लिए ही हो रहा है। परमात्मा क्या है, आनन्द क्या है?

''वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्,
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।''

व्यासजी कहते हैं कि अब तक जितने तत्त्ववेत्ता हुए हैं, उन्होंने जो

इशारा किया है, वह यह कि आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्– ये सब अद्वयज्ञानको ही कहा गया है। अद्वयज्ञान ही आनन्द है, परमात्मा है। अद्वयज्ञान ही हमें चाहिए, भेदज्ञान नहीं। खण्डित ज्ञान नहीं चाहिए। हमें अनन्तज्ञान ही चाहिए। यदि यह बात समझमें आ जाती है तो विषयोंका आकर्षण समाप्त हो जायगा। आनन्दका अनुभव करनेके लिए कुछ करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि वह हम ही हैं। वह आनन्द अद्वयज्ञान ही है। सुख निर्विशेष होता है और वह हमारा स्वरूप ही है। वह हमें नित्य-प्राप्त है। उसीमें हम जीते हैं, रहते हैं; परन्तु परिचय न होनेसे तथा अनुभव न होनेसे भटक रहे हैं।

ब्रह्मज्ञानी कौन है– जो आनन्दी है। आनन्दस्वरूपकी उपलब्धि ही ब्रह्मज्ञान है। जब आनन्द हम ही हैं, हमें उपलब्ध ही है, तो भटक क्यों रहे हैं? आनन्दको अपनेसे पृथक् माननेपर ही भटकाव व धोखा बना हुआ है। उदाहरणके लिए– मृगकी नाभिमें कस्तूरी होती है। उस कस्तूरीकी सुगन्ध बहुत तीव्र होती है। वह उस सुगन्धसे मस्त होता है। जब वह सुगन्ध फैलती है तो उसे यह लगता है कि इधर-उधरसे सुगन्ध आ रही है। तब वह इधर-उधर ही दौड़ता रहता है। क्या कोई उसे बता सकता है कि उसकी नाभिमें ही सुगन्धका मूल स्रोत है। इसीप्रकार मरुभूमिका मृग होता है। जब उसे प्यास लगती है तो उसे मरुभूमिमें पानीका भ्रम होता है। वह पानी पीनेके लिए दौड़ता है। जितना-जितना आगे दौड़ता है, पानी उतना ही आगे दीखता रहता है। वह दौड़-दौड़कर अन्तमें मर जाता है। ये उदाहरण प्रकृतिमेंसे ही लिये जाते हैं। सारी प्रकृति हमारे बोधके लिए, आनन्दके लिए, सुखकी अभिव्यक्तिके लिए ही अभिव्यक्त है। यह निरन्तर हमें हमारी ओर इशारा कर रही है। सम्पूर्ण विषय, प्राकृत और प्रकृति, गुण आते-जाते रहते हैं। ये हमें बताते हैं कि विषय विनाशी हैं और तुम अविनाशी हो।

परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी आत्यान्तिक निवृत्तिमें कोई बाधा नहीं है। वह हमें प्राप्त है; परन्तु ध्यान गलत दिशामें होनेसे वह हमें अप्राप्त हो रही है। दुःखोंकी आत्यान्तिक निवृत्ति विषयोंसे होगी और अन्यतासे होगी– यह संवित् भ्रमयुक्त है; इसलिए किसीका अपनी ओर ध्यान नहीं है अर्थात् आनन्दकी ओर ध्यान नहीं है। इस आनन्दकी प्राप्तिका सरल उपाय है– अपनी ओर ध्यान दो। भ्रान्तिकी निवृत्तिका भी यही समाधान है कि अपना अनुध्यान

करो, आत्मसुखका अनुध्यान करो। हमें आनन्दका और अपना अज्ञान नहीं है। सद्वस्तुका अज्ञान नहीं होता।

विचारकोंने तीन आवरण माने हैं। १. असत्त्वापादक आवरण, २. अभानापादक आवरण ३. अनानन्दापादक आवरण। अस्तित्वका अनुभव नहीं हो रहा है– यह असत्त्वापादक आवरण है। हम तो हैं अर्थात् हमारे अस्तित्त्वके बिना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। अभानापादक आवरण माने मैं ही जान रहा हूँ– ऐसा अनुभव नहीं हो रहा है। मैं आनन्द हूँ– जब यह अनुभव होगा, तब इच्छाएँ निवृत्त हो जायँगी और आत्मसन्तुष्टि उदय हो जायगी।

व्यक्तिका परं प्रेमास्पद कौन है? सुषुप्तिमें हम सबका परित्याग कर देते हैं। प्रिय-से-प्रिय वस्तु भी सुषुप्तिमें नहीं रहती। ईश्वर, शास्त्र, गुरुका भी सुषुप्तिमें त्याग हो जाता है। बस, एक वस्तु है, जिसका परित्याग नहीं होता है। वह है– 'मैं'। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपना मैं सर्वाधिक प्रिय होता है। यही सबका अनुभव भी है। अतः हमारा प्रेमास्पद हम ही हैं। सुखसे, आनन्दसे ही सबको प्रेम होता है। आनन्द और मैं एक ही हैं; इसलिए हम आनन्दका परित्याग नहीं कर सकते। उपनिषद्में है– 'रसो वै सः।' बृहदारण्यक उपनिषद्में है– 'स यो आत्मानं प्रियमुपास्ते'। आत्मा ही आनन्द है– ऐसा ध्यान करो, चिन्तन व भावना करो। इस आनन्दको आत्मरूपसे अनुभव करो।

'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। यह आकाश, अनन्तता, यह ब्रह्मता ही आनन्द है। श्रुतियाँ भेदचिन्तन करनेमें असमर्थ ही हैं। जो अनन्त है, आकाश है, वही ब्रह्म है। वही मैं हूँ, वही निर्विशेष है। इस श्रुतिमें आकाशको आनन्द कहा गया है। छान्दोग्य श्रुति कहती है– 'यो वै भूमा तत्सुखम्।' भूमा ही सुख है। भूमा क्या होता है? इसे श्रुतिने स्पष्ट किया है–

'यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्।'

जहाँ सब कुछ अपना मैं (आनन्द) ही हो जाते हैं, तब सब प्राप्तव्य, कर्तव्य, त्यक्तव्य, ज्ञातव्य शान्त हो जाते हैं। 'यत्र नान्यत् विजानाति' का अर्थ है– अद्वयता। अद्वयता ही आनन्द है, अद्वयता ही सुख है, क्योंकि 'यो वै भूमा तत्सुखम्' । 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' अर्थात् ब्रह्मता ही आनन्द है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।' यह आनन्द ही ब्रह्म है। बस,

इस आनन्दका अनुध्यान करना है, इस मैं का अनुध्यान करना है, अन्य कुछ नहीं करना है। जो वास्तवमें मैं हूँ, जो हमारा आनन्दस्वरूप है, उसके अनुसार अपनी निर्विशेषताका चिन्तन करें। सुखके चिन्तनसे सुखकी प्राप्ति होती है। समस्त उपासनाओं, भावनाओं, साधनाओं, योग-ध्यान, भक्ति आदिका पर्यवसान इसीमें है कि सुखका अनुध्यान करें; क्योंकि सुख ही हमारा इष्ट है। आत्मा ही इष्ट है, अतः इसीका ध्यान कीजिए।

प्रत्येक स्फुरणापर ध्यान रखिए और देखिए कि वह सुखको ही खोज रही होगी। यदि आपकी यह भ्रान्ति बनी हुई है कि सुख अन्यमें है तो प्रत्येक चेष्टा अन्यकी ओर प्रवृत्त होगी। यदि आपकी यह धारणा बन गई है कि 'मैं ही सुख हूँ, मैं ही सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय ब्रह्म हूँ'– तो सभी वृत्तियाँ और चेष्टाएँ अपनी ओर प्रवाहित हो जायँगी तथा सारी स्फुरणाएँ आत्मविषयक ही होंगी। अभी तक यह निश्चय बना हुआ है कि विषयमें सुख है, अन्यमें सुख है, अपनेमें नहीं। इसलिए सबका इष्ट अन्य रूपसे है। चाहे अन्तरतम तक पहुँचना हो या बृहत्तम तक पहुँचना हो, आपको सुखानुध्यान ही करना होगा, आत्मानुसन्धान-आनन्दानुसन्धान ही करना होगा।

यह आत्मा ही अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् है– 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' है, बृहत्तम भी यही है और सूक्ष्मतम भी यही है। 'एष ते आत्मा सर्वान्तरः' यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है। अतः यह विचार करना चाहिए कि जब वस्तुस्थिति सुखस्वरूप, महान्, सूक्ष्मतम है, फिर हम विषयोंकी ओर अभिमुख क्यों हैं? इसके दो कारण माने गये हैं– १. आत्मसुखकी ओर ध्यान नहीं है। २. विषयाभिमुख लोगोंकी संगति विषयमें सुखभावको दृढ करती है। इन दोनों कारणोंका उपाय बस इतना ही है कि– अपनी नजर अपनेपर रखो अर्थात् आनन्दकी नजर आनन्दपर रखो।

जो यह कहते हैं कि केवल जानने मात्रसे ज्ञान हो जाता है, वे तो नारदजीके ज्ञानका हजारवाँ हिस्सा भी नहीं जानते हैं। नारदजी कहते हैं कि मैं ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, गन्धर्ववेद, आयुर्वेद और समस्त कलाएँ आदि जानता हूँ। मैं उन्हें दूसरोंको भी सिखा सकता हूँ; परन्तु मैं शोकका पार नहीं देख रहा हूँ; क्योंकि मुझे आनन्द नहीं मिला है।

'शोकं तरति आत्मवित्।' शोक उपलक्षण है सर्व दुःखोंका अर्थात् जो

हम नहीं चाहते हैं, उसको शोक, दुःख कहते हैं। हम तो सिर्फ स्वयंको ही चाहते हैं। नारदजीसे अनेक उपासनाएँ करवाईं गयीं, फिर भी नारदजीको सन्तोष नहीं हुआ। द्वैत बना हुआ है, तो सन्तोष हो भी नहीं सकता। तब सनत्कुमारजीने नारदजीसे कहा– 'भूमा त्वेव विजिज्ञासस्व।' आपको भूमाकी विजिज्ञासा करनी चाहिए। विजिज्ञासा माने अनुभवपर्यन्त जिज्ञासा। केवल बौद्धिक जानकारी या कौतूहलता नहीं। नारदजीने तो यह पूछा था कि सब कुछ जाननेपर भी मैं शोकसे ग्रस्त हूँ। उन्हें भूमा सुखके अनुभवसे समाधान प्राप्त हुआ और वे शान्त हो गये।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में एक प्रसंग है– पुत्र अपने पितासे पूछता है कि 'मुझे आप ब्रह्मके बारेमें बताइये, मैं ब्रह्मका अनुभव करना चाहता हूँ।' पिताने उसे यह कहा–

''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्व॥''

पिताने अपने पुत्रसे ब्रह्मकी विजिज्ञासा करनेके लिए कहा। विजिज्ञासा अर्थात् जिसे जाना, जानते ही वही हो जाना। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।' जो ब्रह्मका अनुभव करता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। पुत्रने अनुसन्धान किया और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोषोंसे होता हुआ वह अन्तिम लक्ष्यतक पहुँच गया। वह लक्ष्य, अनुसन्धेय क्या है– आनन्द। इसी आनन्दके लिए आनन्दका अनुध्यान करो। आत्मानुभवके लिए अपना अनुध्यान करो अर्थात् निदिध्यासन करो। निदिध्यासनके बिना 'इदं सर्वं विदितम्' की बात जीवनमें आ नहीं सकती। निदिध्यासन द्वारा ही भूमा सुख, अद्वैत सुखसे एक हो सकते हैं।

''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'' आनन्दसे ही चराचर सृष्टि हुई है। आपके अन्तःकरणमें जो वृत्तियाँ हैं, वही सृष्टि है। ये आनन्दसे ही उदित होती हैं, आनन्दमें ही प्रतीत होती हैं, आनन्दसे ही जीवित रहती हैं और आनन्दमें लयहोकर आनन्दरूप ही हो जाती हैं। आनन्द ही ब्रह्म है। 'आनन्दं ब्रह्म।' ब्रह्म ही आनन्द है, आत्मा ही ब्रह्म है। आनन्द अनुभवस्वरूप है। बुद्धिसे परोक्ष, अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है; परन्तु अनुध्यानके बिना

साक्षादपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता है।

अब बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्यजीका अनुभव भी प्रमाण रूपसे देखिए। याज्ञवल्क्य ऋषि राजा जनककी सभामें, सभी विद्वानोंकी सभामें सर्व-सम्मतिसे ब्रह्मवित् घोषित हो गये। ब्रह्म अविषय होता है। ब्रह्मको आत्मरूपसे अनुभव करनेको ही ब्रह्मवित् कहते हैं। याज्ञवल्क्य ऋषिके विचारमें पूर्णता थी; परन्तु आत्माका साक्षादपरोक्ष अनुभव करना अभी शेष था। इसलिए उन्होंने सबका परित्याग कर दिया और संन्यासके लिए चले गए।

एक उदाहरण इसीप्रकारका आजकल 'वाचस्पति मिश्रजी' का है, जिन्होंने छः भारतीय दर्शनोंपर विद्वतापूर्ण व्याख्या की है। वेदान्तकी टीका पूर्ण होनेके बाद उन्होंने अपनी पत्नीसे संन्यस्त होनेकी इच्छा व्यक्त की। उसकी पत्नी भामतीने कहा कि 'पिछले चालीस वर्षोंसे आप जिस काममें रत हो, मैंने आपको जरा-सा भी विघ्न नहीं दिया और यह भी याद नहीं दिलाया कि मैं आपकी पत्नी हूँ। यदि आपका हित इसमें है तो आप संन्यस्त हो सकते हैं। वाचस्पति मिश्रजीका संकल्प इतना दृढ़ था कि उनकी पत्नी भी उन्हें रोक न सकी। वेदान्त दर्शनोंकी इतनी बढ़िया टीका लिखनेवाला विद्वान् होनेपर भी वे संन्यास क्यों ले रहे हैं– इसपर विचार तो करना ही चाहिए और आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि क्या दुःखोंकी आत्यान्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो गई, क्या मैं ब्रह्मसुखरूप हो गया? गीतामें एक श्लोक है–

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।'

जो आत्मतृप्त है, जो आत्मसन्तुष्ट है, उसके लिए न प्रातव्य है, न ज्ञातव्य है, न कर्तव्य है। जिसकी सब इच्छाएँ शान्त हो गयीं, जो अपने-आपमें तृप्त और सन्तुष्ट है, उसके लिए क्या करना शेष रह जायगा? वह तो अपने आपको पूर्ण अनुभव करेगा, आनन्दरूप अनुभव करेगा। ज्ञान माने जानकारी नहीं होता है, ज्ञान माने आनन्द होता है। आप सुखका अनुध्यान करें, तो आप स्वयं सुख ही हो जायँगे; क्योंकि आप वही हैं। पहले यह निश्चय करें कि सुख न 'इदं' में है, न 'तत्' में है। 'नाल्पे सुखमस्ति' अल्पमें सुख नहीं होता। फिर क्या महान्में सुख होता है? यह कहना गलत हो जायगा। इसलिए श्रुति कहती है–

'यो वै भूमा तत्सुखम्।'– महान् ही सुख है, ब्रह्म ही सुख है, न कि

महान्में सुख है।

मैं ही सुख हूँ, सुख ही मैं हूँ– इसपर विचार करो। और विचार करते रहो। कब तक? जबतक अपरोक्ष निश्चय न हो जाय। इसके बाद 'मै सुख हूँ' इसका अनुध्यान करते रहो, जबतक साक्षादपरोक्ष अनुभव न हो जाय। गीताके पाँचवे अध्यायमें है–

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।

स ब्रह्मयोग युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥'

जो बाह्य सुखोंसे भी अनासक्त है, उपराम है और अपनेमें सुखका अनुभव करता है। एकाग्रतासे, चिन्तनसे, उपासनासे प्राप्त सुखको अक्षय करना चाहो तो ब्रह्मयोगसे युक्त हो जाओ। ब्रह्मयोगसे युक्त व्यक्ति अक्षयसुखका अनुभव करता है। जो अपनेको, सुखको अद्वय अनुभव करता है, वही ब्रह्मयोग है। अद्वय अनुभव किये बिना अक्षयसुखका अनुभव नहीं हो सकता। अद्वयता अर्थात् अद्वयसुख ही हमारे जीवनकी माँग है।

आप अपनेको ज्ञानस्वरूप मानते हो तो अनुध्यान करो। आप अपनेको अस्तित्वमात्र मानते हो तो अनुध्यान करो। अपनेको सुख मानते हो तो अनुध्यान करो। जानते हो तो अनुध्यान करो और मानते हो तो भी अनुध्यान करो। यह आत्मनिरीक्षण करनेकी बात है कि आखिर हमारे मनमें एक बेचैनी निरन्तर क्यों बनी हुई है? हम असन्तुष्ट हैं, हमें ऊब सता रही है। जो सूचना दे रही है कि अभी हम सही स्थानपर नहीं पहुँचे हैं। हमारी सर्वत्र प्यास या खोज आत्मरसकी ही है। इस बातपर विचार किए बिना यह आत्मसात् नहीं होगी। हमारा इष्ट और हमारा गुरु सुख ही है। विवेकका आदर करनेसे सुख मिलेगा और विवेकका अनादर करनेसे दुःख मिलेगा– यह मार्गदर्शन भी सुख ही दे रहा है। सुखकी जानकारी मात्रसे प्रयोजनपूर्ति अथवा लक्ष्यप्राप्ति नहीं हो सकती। सुखके विवेचनसे सुख नहीं मिलेगा। सुखसे तद्रूप होनेपर ही सुख मिलेगा। मैं और सुख एक ही हैं। परं तृप्तिका अनुभव सुखसे तद्रूप हुए बिना नहीं हो सकता। अनुध्यानके बिना तद्रूपता हो नहीं सकती।

सुखकी भावना करनेपर थोड़ी देर सुखकी प्रतीति हो जाती है; परन्तु तद्रूप न होनेके कारण उससे उत्थान हो जाता है। सुखरूप होनेपर स्वप्न व मनोराज्य शान्त हो जाते हैं और सुषुप्ति स्वरूपस्थिति हो जाती है। तब निरन्तर

सुखकी स्थिति बनी रहती है। जिस सुखको आप चाहते हैं, क्या वह अभी है या नहीं? मैं ही सुख हूँ या नहीं?

सब सोचते हैं कि विषयमें सुख है, परोक्ष ईश्वरमें सुख है, भगवान्‌के भजनसे सुख मिलेगा। स्वयं सुखस्वरूप होते हुए सुखकी भीख माँग रहे हैं, सुखके उपाय ढूँढ रहे हैं। सुख माने आत्मा होता है। कोई कर्म कर रहा है, कोई प्रयास कर रहा है, कोई विचार कर रहा है, कोई भावना बना रहा है। क्या इससे सुख मिल जायगा? सुख तो हम स्वयं है— ऐसा विचारपूर्वक निश्चयकरके ध्यान देना शुरु कर दो तो सुखस्वरूप हो जाओगे। आनन्दानुसन्धानसे तद्रूप होनेपर, विषयाकारताका भ्रम समाप्त होकर सब ठीक हो जायगा। विषयमें सुख माननेसे, आश्रयको सुख न माननेसे अपनेको अन्यथा मानने लगते हैं। इसीसे विपर्ययकी उत्पत्ति होती है। यदि स्वयं सुखरूप होते हुए भी अपनेको दुःखरूप और परिच्छिन्न मान लेंगे, तो दुःख-परम्पराका भोग करना पड़ेगा। जब हम सुखको, स्वयंको इदंरूपसे, भोग्यरूपसे ढूँढ रहे हैं, मान रहे हैं तो इसका परिणाम यह है कि हम सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय होते हुए भी अपनेको अन्यथा मान लेते हैं, जीव मान लेते हैं और मनुष्य मान लेते हैं। इस विपर्यय या भ्रमकी निवृत्तिका उपाय यही है कि सुषुप्तिशेषका अनुध्यान किया जाय। विपर्ययकी निवृत्ति निदिध्यासनसे ही होती है।

यह निश्चय करो कि स्वयंता ही सुख है और इंदमें सुख नहीं है। यदि श्रुतिपर, शास्त्रपर, गुरुपर श्रद्धाकरके यह निश्चय व निर्णय कर लिया कि विषयमें सुख नहीं है, तब भी केवल निश्चयके द्वारा सुखसे एकत्व नहीं होगा अर्थात् सुखानुभव नहीं होगा। सुखके अनुध्यानसे ही सुखका अनुभव होगा। प्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका यही उपाय है। सुख विषय नहीं होता है। सुख अरूप होता है, अदृश्य होता है, अपरिच्छिन्न होता है, चेतन होता है— यही अनुभव करने योग्य है। ध्यान करनेपर ऐसा अनुभव हो जायगा। सुखाकारताकी प्रतीति होती है, सुखकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि सुख आत्मा ही होता है, आश्रय होता है, विषय कभी नहीं होता है।

सुषुप्तिके द्वारा सुखस्वरूपको स्मरण कर सकते हैं। केवल सुखानुध्यान ही सुखकी उपलब्धिकी अमोघ युक्ति है। सुख स्वतःसिद्ध है, स्वयं प्रकाश है। जैसे, मछलीका जीवन पानी है। पानीसे अलग होते ही वह छटपटाने

व तड़फने लगती है। इसीप्रकार सुखस्वरूपसे ध्यान हटानेपर परेशानी शुरु हो जाती है। इसका अर्थ है कि तुरन्त अपनी ओर ध्यान दो। स्वरूपसे दृष्टि हटते ही दुःखका प्रारम्भ हो जाता है।

सुखकी अविस्मृति सुखके अनुध्यानके बिना हो नहीं सकती। आनन्द प्रकाशक है, प्रकाश है। भोक्ता-भोग्यसे रहित है; क्योंकि आनन्द अविषय है। जो लक्षण चेतनके हैं, वही लक्षण आनन्दके हैं, वही लक्षण ब्रह्मके हैं, वही लक्षण निर्विशेषताके हैं और वही लक्षण अद्वयताके है। आनन्द परोक्ष नहीं होता है, आनन्द अपरोक्ष भी नहीं होता अर्थात् वह साक्षिभास्य नहीं होता है।

आनन्द देशसे परे, कालसे परे, कामसे परे, विषयसे परे होता है अर्थात् देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न होता है। आनन्दको पहचाननेके लिए ये संकेत हैं। आनन्द अदेश, अविषय, अकाल है। आनन्द निर्दृश्य, दृक्स्वरूप है। आप विचार कीजिए एवं ध्यान दीजिए तो आपको ऐसा ही अनुभव होगा। सुखस्वरूप हो जाना ही ब्रह्मज्ञान है। आत्मा ही परं प्रेमास्पद है, स्वभावतः आनन्दरूप, निरतिशय सुखरूप और दुःखाभावरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है— 'स य आत्मानमेव प्रियमुपासते'। जो आत्माको अर्थात् अपनेको सर्वाधिक प्रिय, परं प्रेमास्पद, परं इष्ट मानकर स्मरण करता है, अनुध्यान करता है, तब उसका वह आनन्द अविस्मृतिरूप हो जाता है। फिर आनन्दका ध्यान करना नहीं पड़ेगा; क्योंकि वह आनन्दी हो जायगा, सुखरूप हो जायगा। अपनी नजर अपनेपर सिद्ध होते ही नजर और आत्मा एक हो जायँगे। हमारी दृष्टि हमपर होनेसे दृष्टि अपनेसे अलग नहीं रहेगी।

आनन्द हमारा स्वरूप है और स्वभाव भी। अपनेसे प्रीति स्वाभाविक होती है। जैसे आत्मा अलुप्त है, कभी ओझल नहीं होता, इसीप्रकार आनन्द भी अलुप्त है। आनन्दकी अलुप्तता माने आनन्दकी अविस्मृति। अविस्मृतिमें लानेके लिए आनन्दका स्मरण-प्रवाह चलाना होगा, जो कि हम स्वयं हैं ही। इससे विपर्ययकी निवृत्ति होकर पूर्वाभ्यास, परिच्छिन्नभाव मिटकर सामान्य स्थिति प्राप्त हो जायगी, जो आनन्दरूप ही होगी।

यह कहा जाता है कि स्वरूपपर आवरण पड़ा हुआ है, जबकि ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि आवरण स्वरूपसे प्रकाशित होता है। जैसे, यह कहा

जाता है कि बादलोंसे सूर्य ढक गया। जबकि बादल सूर्यसे प्रकाशित होते हैं। आनन्दस्वरूपतापर आवरण मानना ही अज्ञान है। किसीको अपना अज्ञान नहीं होता है। अपनी ओर ध्यान नहीं है– यह मान सकते हैं। 'मैं नहीं हूँ'– यह किसीका अनुभव नहीं है। 'मैं नहीं हूँ'– इसे जो जानता है, वही मैं है। अतः अपने अभावका अनुभव असम्भव है। इसीप्रकार अपना अज्ञान असम्भव है। फिर अज्ञान किसे कहते हैं? आनन्द स्वरूपताका अनुभव न होना ही अज्ञान है। इसीसे आनन्दका विवर्त दीखने लगता है। मूलतः मैं ही सर्व हूँ। अतः हम अपनेसे ही प्रेम करते हैं; परन्तु अन्य मानकर, धोखा खाकर दुःखोंसे घिर जाते हैं। ये विषय नहीं हैं, यह सब परमात्मा है– 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' सब आनन्दस्वरूप ही है। जब हम भेद-भिन्नताको स्वीकार करते हैं, तो हमें विषम परिस्थितियाँ दिखाई देनी लगती हैं। द्वैत ही सारे उपद्रवोंका कारण है।

श्रुतिका व जीवनका अध्ययन करनेपर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दके सिवाय और कुछ सार नहीं है। बस, इतना ही समझना व करना है। इसके अलावा कुछ भी करनेपर भ्रम व भटकाव हो जायगा। अपना ही अनुध्यान कीजिए, अन्यका नहीं। अपना माने आनन्द है। आश्रयमें ही वृत्ति रुक सकती है, विषयमें वृत्तिका प्रवाह बन्द नहीं हो सकता। स्थिर वस्तुमें ही वृत्ति स्थिर हो सकती है। गतिमान् वस्तुमें वृत्ति ठहर नहीं सकती। बस, यही सार है कि सुखका चिन्तन विश्लेषणात्मक व ध्यानात्मक कीजिए और सुखसे तद्रूप हो जाइये।

'आत्मध्यान'

पहले अपना परिचय फिर अपना अनुभव। 'मैं है'– बस यह संवित् नहीं बन रही है। हम अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानते हैं, जबकि हम अद्वैत हैं। मैं का परिचय गलत होनेसे राग-द्वेष, असद्भाव बना हुआ है। आध्यात्मिक मैं का परिचय दिया ही नहीं जाता। प्रातिभासिक व व्यवहारिक मैं में ही सब उलझे हुए हैं। हमें सुखकी प्यास होनेपर भी उसका परिचय नहीं है अर्थात् अपने वास्तविक मैं का पता नहीं है। सुख कौन चाहता है– यह परिचय होता तो सुखकी प्यास भी न होती। अपने गलत परिचयके कारण सुखकी प्यास बनी हुई है। हम सुखस्वरूप हैं, उसे ही हम चाह रहे हैं। विपर्यय अपने सम्यक् परिचय न होनेके कारण है।

योगवासिष्ठमें श्रीरामजीने वशिष्ठजीसे पूछा कि 'यह जगत् कहाँसे आया, यह द्वैत कहाँसे आया?' इसका समाधान वशिष्ठजीने अनेक युक्तियोंसे किया है। श्रुतिने कहा है– 'कौन कह सकता है कि सृष्टिकी उत्पत्ति हुई या नहीं!' इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें इसका अज्ञान है। इसका अर्थ तो यह है कि सृष्टि है ही नहीं। अतः जो वस्तु है ही नहीं, वह कहाँसे आई– यह अनुसन्धेय नहीं है। यह तो केवल हमें प्रतीत हो रही है; क्योंकि हमने अपनेको अन्यथा स्वीकार किया हुआ है। अपने परिचयके साक्षात्कारके बिना कोई बात भी साक्षात्कृत नहीं हो सकती। जगत् और जीवनका पता लगानेसे पूर्व इसको अनुभव करने वालेका पता करना चाहिए। कुछ भी करने, बोलने, सोचनेसे पूर्व सर्वप्रथम आत्मपरिचय होना चाहिए, इसके बाद ही यह देखना चाहिए कि कुछ भी क्यों करते, बोलते या सोचते हैं? 'कौन' पहले है, 'क्यों' बादमें है। अतः आत्मानुसन्धान ही करना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि आत्मानुसन्धान कैसे हो? आत्मा माने मैं, जो यह-वहसे मुक्तस्थिति है अर्थात् जहाँ अनात्मा नहीं है, जहाँ न सर्व है और न असर्व है। साधना या ध्यान करनेसे पूर्व यह देखना चाहिए कि साधना करनेवाला, ध्यान करनेवाला कौन है, जिज्ञासु कौन है? श्रुतिने उपदेश भी किया है कि आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। पारमार्थिक मैं के अनुभव होनेपर सबकुछ हो जायगा। गीता, उपनिषद्, शास्त्रादि 'मैं' को ही समझाने व परिचय करवानेमें लगे हुए हैं। मैं कौन हूँ– जो कुछ भी कर रहा है? शास्त्रीय कर्मके उपदेश 'मैं' पर ध्यान दिलवानेके लिए हैं। जैसे, यज्ञादिमें यज्ञके समय एक यज्ञद्रष्टा होता है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि द्रष्टा कौन है? शास्त्रोंमें कर्मका निरूपण आत्मज्ञानके लिए है। गीतामें कर्मका अर्थ निदिध्यासन है।

व्याकरणके अनुसार कर्मका अर्थ आत्मा है। कर्त्ताका जो परमप्रिय है, वह सुख है और परमप्रिय आत्मा ही होता है। कर्म प्रवृत्ति अर्थमें नहीं है। शुक्ल यजुर्वेदका एक मन्त्र है–

'परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परिदिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥' (३२/१२)

यज्ञ करने वालेने यह देखा कि मैं जो कर्म कर रहा हूँ, वह अनन्त अस्तित्वसे ओत-प्रोत दिखाई पड़ रहा है। यदि कर्म करते हुए ऐसी दृष्टि प्राप्त

नहीं होती तो वह कर्म, वह प्रवृत्ति व्यर्थ है। जिस विचारका पर्यवसान निर्विचारतामें नहीं होता, जिस विचारका पर्यवसान आत्मबोधमें नहीं होता, वह विचार व्यर्थ है। यज्ञ करनेवाले यजमानने देखा कि यह सब पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौलोक, आकाश, समस्त दिशाएँ आदि किसीसे ओत-प्रोत हैं। उधर उसकी दृष्टि चली गई। दृष्टि जानेपर उसने यज्ञके विस्तारको बन्द कर दिया। इससे उसकी नजर उसपर चली गई, जो सबको ओतप्रोत किये हुए है। दृष्टि जाते ही वह वही हो गया; क्योंकि वह वही था।

जो भावनाएँ, उपासनाएँ, भजन, जप करते हैं, उनके करनेपर यह दृष्टि मिलनी चाहिए और जिज्ञासा होनी चाहिए कि भजन, उपासना, भावना करनेवाला मैं कौन हूँ? भजनके सम्यक् होनेपर ही ऐसा हो सकता है।

जैसे, किसी भूखे व्यक्तिको एक-एक ग्रास खाते ही पुष्टि, तुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति होने लगती है। इसीप्रकार भगवान्‌के भजनसे, आत्मचिन्तनसे और तदीक्षणकी प्रत्येक आवृत्तिसे भगवदाकार वृत्ति-प्रवाह, माया आदिसे विरक्ति और भगवान्‌के स्वरूपका अनुभव होना चाहिए। तभी सम्यक् भजन होता है। भगवदाकार-वृत्ति ही भजन है। अतः भगवदाकार-वृत्तिकी एक-एक आवृत्तिमें यही घटना घटित होनी चाहिए। इन तीनों बातोंसे भजनका सम्यक् स्वरूप बताया गया है। यदि ये प्रभाव नहीं आते तो भजन ठीक नहीं हो रहा है। भगवद्भाव करनेपर सुखात्मक अथवा दुःखात्मक प्रतीतिका लय हो जाता है। सही भजनमें हर वृत्तिसे प्रत्यक्‌की ओर, प्रकाशककी ओर ध्यान जाता है। ऐसा न होनेपर भजन नहीं है, भजनाभास है; क्योंकि उनका कोई प्रभाव नहीं होता। भजन वही है जो भक्ति-विरक्ति-भगवत्प्रबोधको प्राप्त कराये। श्रुति कहती है– आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। श्रुतिने अनात्मासे उपरामता, आत्माकारवृत्तिका प्रवाह और आत्मबोधको ही भजन कहा है। व्यासजी ने कहा कि अद्वयज्ञान ही परमात्मा है, भगवान् है। 'यज्ज्ञानमद्वयम्' और अद्वयज्ञानके बारेमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही भजन है।

भगवान्‌का परिचय क्या है? भगवान् चेतन है और वह अपनेसे अलग हो नहीं सकता। मैं पर विचार करो और अपना ध्यान करो। व्यवहारिक और प्रतिभासिक मैं का व्यवहार और भोग सब करते हैं। अपने वास्तविक मैं को जो सुषुप्तिमें रहता है– उसे स्वीकार नहीं करते। जाग्रतमें जिसे मैं कहते हैं, वह

स्वप्न व सुषुप्तिमें नहीं रहता है। अहं का अर्थ है– जो अविनाशी हो। मैं तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें रहता है; परन्तु जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह तीनों अवस्थाओंमें नहीं रहता। जो सुषुप्तिमें रहता है, वह मैं तो अब भी है और स्वप्नमें भी था। इस बातपर ध्यान दो तो इसका सम्यक् अनुभव हो जायगा। जो मैं तीनोंमें है और तीनोंसे अलग भी है, वही पारमार्थिक 'मैं' है। यह ध्यान, अनुसन्धान करो कि 'सुषुप्तिमें मैं क्या होता हूँ?' सुषुप्तिमें जो मैं होता हूँ, उसकी ओर ध्यान नहीं है, बस, उसपर ध्यान दीजिए।

श्रुति तो कहती है कि अनात्माका आलम्बन लेकर आत्माका अनुभव मत करो। आप बिना किसी सहारेके आत्मानुभव करो। श्रुतिका यह निर्देश है– 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्येत्।' अपनेमें, अपनेद्वारा, अपना अनुभव करो। किसी विशेषतामें रहकर विशेष वस्तुका चिन्तन मत करो। सीधे निर्विशेषतापर ध्यान दो; क्योंकि आत्मा निर्विशेष है। अनात्मा सविशेष है। निर्विशेषरूप से बिना किसी वृत्तिके आत्मानुभव करो। किसी वस्तुकी अपेक्षा, गुरुकी अपेक्षा, शास्त्रकी अपेक्षा, साधककी अपेक्षा मत करो। स्वयं ही अपनेको अनुभव करो और स्वयंके द्वारा स्वयंमें रहकर ही अपना अनुभव करो। यदि शब्दोंका सहारा लोगे तो वाक्य, विशेषता आदिमें ही मन घूमता रहेगा, सत्यकी ओर ध्यान नहीं जायगा। यदि ऐसा नहीं कर सकते हो, तब माण्डूक्य श्रुति जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिके द्वारा अनुभव करनेकी अनुमति देती है।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

‘प्रार्थनासे अनुसन्धानको बल’

प्रार्थना एक ऐसी विधि है, जो सबसे सरल है और सर्वत्र-सर्वदा व सभीके लिए अनुकूल है। प्रक्रियापूर्वककी गई प्रार्थना अमोघ है। व्यवहारसे लेकर अध्यात्मपर्यन्त प्रार्थनाका प्रयोग किया जाता है। असमर्थतासे मुक्तिके लिए, विघ्नोंकी निृवत्तिके लिए, समस्याओंके समाधानके लिए, योगक्षेमके लिए और प्राप्तव्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए प्रार्थनाका प्रयोग करना चाहिए। यदि हर दिशामें महान्‌की कृपा, महान्‌का आशीर्वाद, महान्‌का सहयोग मिलता है, तो अल्प सामर्थ्यवालेके लिए वह अमृतका काम करता है। यदि कुछ समझमें न आ रहा हो, किसी प्रकारकी असमर्थताका अनुभव हो रहा हो, तो उसके लिए महान्‌की सहायता लेनी चाहिए। महान् अस्तित्वका यह नियम है कि उसका दरवाजा खटखटाओगे तो अवश्य खुलेगा। महान् वस्तुकी यह विशेषता है कि वह अमृतकल्पवृक्ष, चैतन्यचिन्तामणि, कामधेनु होता है। जो माँगेंगे, वह मिलेगा। सब जगह अपनी बुद्धि काम नहीं देती और सब जगह मन व शारीरिक शक्ति भी काम नहीं देती। परिस्थितियाँ बदलती हैं, प्रकृति हमारे हाथमें नहीं है, इच्छाएँ परेशान करती हैं– इन सब स्थितियोंमें प्रार्थना अमोघ काम करती है।

प्रार्थनारूप साधना अनुभवियोंका अनुभव है। कुछ प्राप्तिके लिए अथवा कुछ निवृत्तिके लिए प्रार्थनाके द्वारा अपूर्व सहायता मिलेगी, जो कभी व्यर्थ नहीं होगी। किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी परिस्थितिमें व किसी भी व्यक्तिके द्वारा प्रार्थनाका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे अपूर्व साधनका पता होनेपर भी जीवनमें उसका उपयोग क्यों नहीं करते? जो ज्ञान अहंकारका भोग्य बन चुका, वह जीवनके लिए व्यर्थ हो चुका। ज्ञानके आदरसे ही अहंकार निवृत्त होता है। अहंकारी व्यक्ति कभी ज्ञानका आदर नहीं करता। प्रतिक्रिया न करनेसे अहंकार शिथिल हो जाता है। किसीके सद्‌भावका तिरस्कार मत करो, उसकी उपेक्षा मत करो।

प्रार्थना सरल व मधुर साधन है। इसे मुस्लिम व ईसाई लोगोंने जीवनमें पग-पगपर प्रयोग किया है। प्रार्थनाका मूल रहस्य है– अहंकारकी शिथिलता। परेशानी, कष्ट आनेका अभिप्राय है कि अहंकार बलवान् है। दुःख-सुखको अहंकार ही महसूस करता है। अहंकारकी शिथिलताका अच्छा उपाय प्रार्थना है। यहाँ प्रार्थनाका अभिप्राय विधिपूर्वक प्रार्थना करनेसे है। मनमाने ढ़ंगसे

निवेदन करनेको अथवा शब्दोच्चारण मात्रको प्रार्थना नहीं कहते।

कुछ सूक्ष्मबुद्धि वाले लोग अपनी अहंभावनाके कारण प्रार्थना नहीं कर पाते; क्योंकि उन्हें अपनी सूझ-बूझका अभिमान होता है। जो सूझ-विचार-युक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उसका वह कर्त्ता नहीं है। ज्ञान तो व्यक्त होता है। ज्ञानका कोई कर्त्ता नहीं होता। ज्ञानमें कर्त्ता उदय-अस्त होता है। प्रार्थनासे सबकुछ सम्भव हो सकता है। प्रार्थनामें नम्रता होती है। नम्रताका गुण सबको प्रिय होता है। प्रार्थनाका सहारा मत छोड़िए। अहंकार प्रयुक्त उपाय व्यर्थ हो जाते हैं या विघ्नित हो जाते हैं। दुःखोंके अवसानके लिए तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिए महान् अस्तित्वसे प्रार्थना कीजिए। वह महान् अस्तित्व सर्वत्र-सर्वदा-स्वरूपोंमें उपस्थित है। प्रार्थना द्वारा अहंकार तथा अहंकारजन्य उपद्रवोंसे रक्षा होती है। प्रार्थनाको जीवनका अंग बना लीजिए। ऊब मिटानेके लिए अन्य उपाय मत कीजिए। ऊबमें अहंकार नीरसताका अनुभव करने लगता है। प्रार्थनासे अहंकार झुकता है और ऊब समाप्त हो जाती है। समस्याएँ अहंकारको सतानेके लिए आती हैं। प्रारब्ध अहंकारको ही सुख-दुःख देता है। अहंकार है नहीं, केवल दीखता है।

जब प्रार्थना हृदयसे होती है, तो तत्काल प्रभाव होता है। ‘रक्षा करो!’ यह प्रार्थना करते ही रक्षा हो जाती है। प्रार्थनासे अद्‌भुत चमत्कार होता है। जिससे प्रार्थना की जा रही है, उसका कुछ परिचय होना चाहिए। जो प्रार्थना की जा रही है, वह निर्विकल्प होनी चाहिए। प्रार्थना विधिपूर्वक होनी चाहिए। प्रार्थना चेतनके प्रति होती है। चेतन कल्पवृक्ष है। उसके सामने जो भी भावना की जाती है, चाहे अच्छी या बुरी, वैसी प्रकाशित हो जाती है। चेतन स्वयं असंग है। चेतन हम स्वयं हैं अर्थात् प्रार्थना हम ही सुनते हैं। हमारे चेतनस्वरूपके समक्ष ही प्रार्थना साकार होती है। विचार जितना स्पष्ट होगा और जितनी विधिपूर्वक एकाग्रता होगी, उतनी तीव्रतासे प्रार्थना साकार होगी। संकल्प भी प्रार्थना ही है। प्रार्थनामें अहंकारको झुकाना ही तप है। यदि ब्रह्मविद्या चाहिए तो आप प्रार्थना कीजिए– ‘मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये’ (कठ०) मैं दुःखोंसे पार होनेका इच्छुक, जीवत्वसे मुक्त होनेका इच्छुक आपकी शरण ग्रहण करता हूँ। यदि ध्यान नहीं लग रहा है तो पहले प्रार्थना कीजिए, फिर प्रयास कीजिए। यदि आपके पास बुद्धि और युक्ति है, तो भी

प्रार्थना कीजिए। बुद्धिकी युक्तिको अहंकार भोग्य न बना ले; इसके लिए प्रार्थनाका सहारा लेना चाहिए। प्रार्थना एक अद्‌भुत साधन है। विधिपूर्वक प्रार्थनाको जीवनका एक अंग बना लेना चाहिए।

जीवनमें कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो प्रयाससे भी प्राप्त नहीं होतीं, जैसे– सद्‌बुद्धि, संयम शक्ति, कुसंगसे रक्षा। प्रार्थना करनेपर कुसंगसे तुरन्त रक्षा हो जाती है। विश्वमें सबसे खतरनाक वस्तु कुसंग है, जो व्यक्तिकी बुद्धिको ही बदल देता है। जैसे– अजामिलकी बुद्धि क्षणभरके कुसंगसे विकृत हो गई। सत्संगसे कुसंग मिटता नहीं है, वह स्थगित होता है। जो बुद्धि या प्रज्ञा हमें प्रार्थनासे प्राप्त होती है, वह कुसंगसे रक्षा करती है और कुसंगकी परिस्थितिको भी हटा देती है। प्रार्थना ग्रहोंके प्रभावको भी हिला देती है। कोई कहता है कि– 'होनी होकर रहती है।' परन्तु प्रार्थनाके द्वारा उस होनीको स्थगित कर सकते हैं। प्रार्थनाका यह मनोविज्ञान अनादिकालसे है और निर्विवाद है। निर्विवाद होनेपर भी लोग कुसंगके कारण प्रार्थना नहीं करते हैं। प्रार्थनासे बल मिलता है, अनुसरण-सामर्थ्य मिलती है, विघ्नों तथा प्रमादकी तत्काल निवृत्ति होती है। ज्ञानका आदर करनेके लिए प्रार्थना कीजिए। उससे अनुसरण-सामर्थ्य प्राप्त होगी तथा दिशा स्पष्ट होने लगेगी।

प्रार्थनाके कुछ उदाहरण

जीवनमें प्रार्थनाको स्वीकृति मिलते ही, आपकी प्रार्थनामें रुचि जाग्रत हो जायगी। कुसंगके प्रभावसे तथा अहंकारके तनावसे लोग प्रार्थना भी नहीं करते हैं। फिर किसी आदेशसे ही प्रार्थना कर लीजिए। सबसे पहले यही प्रार्थना करें कि कुसंगके प्रभावसे हमारी रक्षा हो। प्रार्थना निषेधात्मक नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम तीन या चार मिनटकी प्रार्थना तो सब कर ही सकते हैं। यह विश्वास भी होना चाहिए कि हम जो प्रार्थना कर रहे हैं, वैसा ही अभिव्यक्त होगा। विपरीत बुद्धि और कुसंगसे बचनेका अचूक उपाय है– प्रार्थना। जीवन में असन्तोषकी निवृत्तिके लिए प्रार्थना करनी चाहिए। यह प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए कि– 'मुझे वासनासे, झूठे अभिमानसे, लोगों तथा वातावरणके असत् प्रभावसे, दुःखोंके भयसे तथा आरोपित सुखोंके लालचसे बचावें।' यह सबके जीवनकी माँग है। प्रार्थनाके द्वारा आप सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय, परम स्वतन्त्र,

चैतन्य-चिन्तामणिसे सम्पर्क रख सकते हो। प्रार्थनामें स्तुतिके द्वारा अपने स्वरूपका परिचय मिलता है। प्रार्थनासे यह जिज्ञासा भी जगती है कि वह दिन कब आयेगा, जब मैं अपनी आनन्द-स्थितिमें निमग्न होऊँगा।

आप भी अपनी माँगको इस प्रार्थनाके द्वारा परमात्माके सम्मुख रखिए–

'न आना कहीं है, न जाना कहीं है, अपने में रहने को जी चाहता है।
देखूँ मैं क्या इस झूठे जहाँ में, बस तेरे नजारे को जी चाहता है।
रूठे गर दुनियाँ तो परवा नहीं है, तुझी को रिझाने को जी चाहता है।
मुझको सदा याद तू ही रहे बस, सभी कुछ भुलाने को जी चाहता है।
मागूँ मैं क्या तुझसे ए मेरे दाता, तुझे माँगने को ही जी चाहता है।
'सबमें तुम्हीं हो, तुम्हीं में है सब कुछ', यही दृष्टि रखने को जी चाहता है।
मुझमें समाया हुआ है तू हरदम, खुदी को मिटाने को जी चाहता है।
तेरे सिवा कुछ नहीं इस जहाँ में, तुमसे एक होने को जी चाहता है।
तेरी याद की मस्ती उतरे कभी न, यूँ ही मस्त रहने को जी चाहता है।'

इस निरपेक्ष प्रार्थनाको जीवनमें अनुभवकरके देखिए और प्रार्थनाके द्वारा परमात्मासे जुड़ जाइये। प्रार्थनाका एक रूप यह है–

'हे परमात्मा! सबमें तुम्हीं हो। सबकुछ तुम्हींमें है। तुम ही तुम हो। तुम ही परमानन्द हो। मुझे सद्‌बुद्धि दो। मैं संयमसे रहूँ। मैं आपकी शरणमें हूँ। आप आकाशवत् अनन्त हो। मैं आपको प्रणाम करता हूँ।'

इस प्रार्थनामें मुख्य दो बातें हैं– सुद्‌बुद्धि और संयम। इन्हींसे जीवन व्यवस्थित हो जायगा। हृदयसे प्रार्थना कीजिए। सुखकी याचना विषयोंसे न करके उनके अधिष्ठानसे करो, उनके आश्रय-प्रकाशकसे करो। सुखकी माँग पूरी करनेका सर्वश्रेष्ठ उपाय तो यह है कि सुखका ध्यान करो, तो सुखकी प्राप्ति हो जायगी। सुखस्वरूपसे ही सुख माँगो। दुःखोंसे सुख माँगने जाओगे तो सुख कैसे मिलेगा? दृश्य तो दुःखरूप होता है और प्रतीति भ्रान्तिरूप होती है। यदि भ्रमोंसे सुख माँगोगे, तो वह कैसे मिलेगा? अर्थात् जहाँ सुख नहीं है, वहाँसे सुख कैसे मिलेगा? व्यक्ति पूरा दिन विषयोंसे सुखकी कामना करता रहता है और पराधीन होकर जीता है। एक चाह मनुष्यको कहाँ-से-कहाँतक पहुँचा देती है और मुनष्य एक चाहके लिए क्या नहीं करता? सुखका ध्यान

करनेकी या प्रार्थनाकी इच्छा हो, तो वैसी मनोवृत्ति व परिस्थिति हमें प्राप्त हो जायँगी। बस, मनुष्यकी चाहपर निर्भर है कि वह चाहता क्या है? प्रार्थना करनेमें कोई कठिनाई नहीं है, सुर्वसुलभ है।

जीवनका संचालक बुद्धि है। बुद्धि ठीक है, तो जीवन भी व्यवस्थित रहेगा। भगवान्‌से यह प्रार्थना कीजिए कि– 'मैं सन्तोषपूर्वक जीवन-निर्वाह करूँ। मैं ज्ञानका आदर करूँ। जिसे मैं छोड़ना चाहता हूँ, वह मुझसे छूट जाय और जिसे मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, उधर मेरा ध्यान बना रहे। जिसके बिना काम चल सकता है, उसे मैं छोड़ दूँ।' आप प्रार्थनाके माध्यमसे चेतनशक्तिसे जुड़े रहेंगे। चेतन माने सुख, आनन्द। सुखसे जुड़नेके लिए कोई मना नहीं करेगा। आनन्दसे सम्पर्क बना रहनेपर जीवनमें आनन्द प्रतिष्ठित हो जायगा। अनात्मासे, दुःखोंसे सम्पर्क होनेपर जीवनमें दुःख ही आते हैं।

प्रार्थना करनेपर एक शान्त स्थिति आती है, जहाँ मन नहीं रहता है और तब विकल्प भी नहीं रहता। जब मन शंका, अरुचि व अश्रद्धा करता है, तब वह प्रार्थनाको पूरी नहीं होने देता है।

प्रार्थना-विधि

प्रार्थना सन्धिकालमें करनी चाहिए। चाहे जीवनकी सन्धि हो या कालकी सन्धि हो। कालकी चार सन्धियाँ होती हैं और जीवनकी दो सन्धियाँ होती हैं। उस समय प्रार्थना करनेसे अच्छा प्रभाव पड़ता है। वैसे तो प्रार्थना कभी भी, कहीं भी कर सकते हैं। प्रार्थनाकी मुख्य शर्त एक है। वह यह है कि– प्रार्थना विधिपूर्वक होनी चाहिए। प्रार्थनाकी विधि जानिए। परमात्माको आप किस रूपमें मानते हैं? साकार या निराकार, निर्गुण या अपना आत्मा? वह एक महान् अस्तित्व है– यह तो सब मानते हैं। जिसे भी परमात्मा मानते हो, उसे पाँच सेकेण्डके लिए ख्यालमें लाइये। जिसे महसूस कर रहे हो, वे कौन हैं, उसका परिचय स्तुति रूपमें बोलो। जैसे– 'हे सच्चिदानन्द! हे सर्वान्तर्यामी! हे चिन्तामणि! हे मेरे आत्मन्! हे ब्रह्मदेव!' इसप्रकार सम्बोधितकरके शान्त हो जाइये। स्मरण क्या है– कुछ न सोचना। अन्य कुछ स्मरण न करना ही परमात्माका स्मरण है। 'न किंचिदपि चिन्तयेत्।' सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दसे हम प्रार्थना कर रहे हैं– ऐसा भाव बनाओ। जिसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वैराग्य, सम्पूर्ण लक्ष्मी, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतिष्ठा है, उस परमात्मासे

अपनी बात कह रहे हैं– ऐसी भावना कीजिए। अपनी बात कहकर, प्रार्थनाका वाक्य बोलकर शान्त हो जाइये।

शान्त होना माने अमन हो जाना, मनका न रहना। शान्त होना सबसे अधिक जरूरी है। प्रार्थनाकी विधिमें सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है– शान्त होना। शान्त होनेका उदाहरण है– गहरी नींद। गहरी नींद जैसी स्थिति ले आइए तो शान्तस्थिति आ जायगी और प्राण भी रुक जायँगे।

आपने सुना या पढ़ा होगा– 'भविउ मेटि सके त्रिपुरारि।' योगदर्शन भी कहता है कि– 'जो दुःख अभी नहीं आया, उसे प्रार्थनाके द्वारा स्थगित कर सकते हैं और उससे बच सकते हैं– 'हेयं दुःखमनागतम्'। प्रार्थना भाग्यमें संशोधन कर देती है। इसके लिए शान्त स्थिति– अमनी भाव आना चाहिए। जब कभी कोई पीड़ा या संकट आ जाय या कोई भय लग रहा हो, तो नींद आते ही वे तिरोहित हो जाते हैं। अतः गहरी नींद जैसी शान्त स्थिति लाइये। प्रार्थनामें तीन बातें जरूरी हैं– पहले एक या दो वाक्य स्तुतिके कीजिए, फिर प्रार्थनाका अर्थात् अपनी माँगका वाक्य और अन्तमें अहंकारको झुकाइये अर्थात् शरणागतिका अनुभव कीजिए। अहंकार झुकानेका अर्थ है– निरहंताका अनुभव। अपने इष्टका ख्याल करो या अस्तित्वका ख्याल करो। वह अस्तित्व कौन है, कहाँ है। वह जो भी है, बस है– इतना ही ध्यान दो। अस्तित्वका स्मरण करनेके बाद स्तुति वाक्य बोलकर शान्त हो जाना। शान्त होनेपर अर्थात् निर्विचारता आनेपर प्राणकी गति भी कुछ क्षणोंतक रुक जायगी। इसी विधिमें पहले इष्टका स्मरण, वाक्यका मधुरता व गम्भीरतासे उच्चारण और शान्त होना है। इस प्रक्रियासे सारी प्रार्थना करके अन्तमें यह निवेदन कि– 'मैं शरणमें हूँ' अर्थात् शरणागतिका, अहंकारका समर्पण अनुभव करना।

प्रार्थना प्रतिदिन अवश्य करनी चाहिए। जीवन या जीवनका अंग मानकर करनी चाहिए। विधिपूर्वक होनी चाहिए। वैसे प्रार्थना कभी भी, कहीं भी कर सकते हैं। प्रार्थनाकरके मनमें प्रसन्नता होनी चाहिए कि मेरी परमात्मासे मुलाकात हो गई है। परमात्माका स्मरण करना ही उनसे मिलना है। देरी-दूरी नहीं है। कुसंगसे रक्षाके लिए प्रतिदिन प्रार्थना अवश्य कीजिए, आप निर्भय हो जायँगे।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

मन न लगनेका कारण

भजन या ध्यान क्यों नहीं होता? स्वरूपाकार वृत्ति क्यों नहीं बनती? क्योंकि जो हमारा स्वरूप है, उसके बारेमें स्पष्टता नहीं है। स्वरूप अर्थात् सुखको अनेक जगह माननेसे ध्यानमें मन नहीं लगता। विषयमें तो सुख प्रतीत होता है; परन्तु अपनेमें सुख सुना हुआ है, जिसे अभी अनुभव नहीं किया है। अपनेमें सुखका अनुभव न होनेसे विषयमें मन लगता है। विषयमें सुखका आभास, सुखभोगका अध्यास व अभ्यास होनेपर भजनमें मन नहीं लगता, वृत्ति स्वरूपाकार नहीं हो पाती। दूसरे शब्दोंमें– सुविधोपासना वाले व्यक्तिका ध्यानमें कभी मन नहीं लग सकता।

सुख माने अच्छा लगना। विषयमें सुखकी प्रतीतिको सुखाभास कहते हैं। विषयमें सुखाभास होनेपर असली अर्थात् तात्त्विक सुखकी ओर ध्यान नहीं जाता। विषयमें सुखको आरोपित करनेवाला व्यक्ति ध्यानमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। विषयोंमें सुख नहीं होता है, वे तो केवल निर्वाह के लिये हैं।

भूख एक व्याधि है, उसका प्रतिकार अथवा उपाय भोजन है। फिर उस दवाको सुख कैसे मान लिया गया? विषयमें सुख किसीको मिला नहीं; परन्तु उसमें सुखका आरोप करते रहनेसे भ्रान्ति हो जाती है कि विषयमें सुख है। क्या कोई उस अच्छा लगनेके बारेमें कुछ बता सकता है? सुख अनुभाव्य नहीं होता। सुख निराकार, निर्गुण होता है। सुखका अनुभव अपने मैं में ही होता है, विषयमें नहीं। सुखका अधिष्ठान मैं है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता 14/27)

मैं से जुड़कर ही विषयमें सुखका आभास व आरोप होता है। 'मैं ही सुख हूँ'– जब ऐसा निश्चय होगा, ऐसी वृत्ति बनेगी, तब मन स्वतः सुखकी ओर अर्थात् अपनी ओर जाकर, उसमें समाहित हो जायगा।

मन तबतक भटकता रहेगा, जबतक वह सही जगह नहीं आ जाता। जो सुखका उद्गम स्थान है और जहाँ सुखका अनुभव बिना किसी माध्यमके होता है, यदि उसमें मन सुखका अनुभव करेगा तो स्वरूपमें स्थिति हो जायगी और मन अपने बृहत्-स्वरूपमें शान्त हो जायगा अर्थात् मन नहीं रहेगा। मन का

लगना अर्थात् मन का न रहना। यही अपने स्वरूपकी उपलब्धि है, आत्मसाक्षात्कार है।

सुख अपना स्वरूप है, प्रकाश्य नहीं। सुखका प्रकाशन कभी नहीं होता; क्योंकि सुख अनुभाव्य नहीं होता, विषय नहीं होता। सुख स्वयंप्रकाश है। सुखको जो चाहता है, उसकी ओर ध्यान देनेपर विषय सारहीन और व्यर्थ हो जायँगे। मैं के अनुभवसे सर्वका अनुभव होता है। मैं माने है– सुख। मैं ही सर्वरूपमें हूँ।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

इस श्रुतिके आधारपर भी मैं आनन्द ही स्वरूप हूँ। अतः मैं ही मधुर हूँ, मैं ही कटुरूपमें भी हूँ। इसका अभिप्राय है कि सर्व नहीं है, मैं ही मैं है। इससे राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण समाप्त हो जायँगे और अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठा भी हो जायगी। यह निश्चय करो कि 'सुख मैं है', फिर अपनी ओर ध्यान दो। सुख अनन्त और आत्मरूप होता है। इस समझपर ध्यान करनेसे सुख जीवनमें अवतरित हो जायगा। 'मैं सुख हूँ'– इसका ध्यान करनेसे सुखस्वरूप हो जाओगे।

अपनेपर दृष्टि रहना ही सुखानुध्यान है या ब्रह्मानुसन्धान है। हमने अपनेको अर्थात् सुखको अन्यत्र आरोपित कर दिया है; इसलिये सुखानुध्यान, ब्रह्मानुसन्धान नहीं हो रहा है। सुखको अन्य माननेसे परिणाममें दुःखकी ही प्राप्ति होती है।

द्वैत-बुद्धि न रहे और द्वैतमें सुखाभास न रहे, तो व्यक्ति तन, मन, बुद्धिसे स्वस्थ रह सकता है। द्वैतमें सुखबुद्धि होनेपर प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। अतः यह निश्चय करना चाहिये कि 'हमें सुखके लिये न कुछ करना, न बोलना और न ही सोचना है।' इससे व्यवहार निर्वाहमात्र और व्यवस्थित हो जायगा। सुख तो अपनी स्वयंता है। अपनेमें रहनेपर तृप्ति बनी रहेगी। अपनेमें रहना ही सर्वसमाधान है।

सुखाभास

लोग सुखका अनुसन्धान न करके सुखाभासका अनुसन्धान कर रहे हैं। सुखाभासका अनुसन्धान विषयमें, व्यक्तिमें, परिस्थितिमें और वस्तुमें होनेसे विषयानुसन्धान अर्थात् अनात्मानुसन्धान हो रहा है। अनात्मा दुःखरूप है, अतः

दुःखानुसन्धान हो रहा है। हमें अपनेसे पृथक्‌में सुख नहीं चाहिये; क्योंकि वहाँ सुख नहीं है। सुखाभास तो सुखकी ओढ़नीमें दुःख है। सुखाभासके कारण ही जिज्ञासा, श्रद्धा, मुमुक्षा क्षीण हो जाती है। यदि जिज्ञासा, मुमुक्षा और श्रद्धाको प्रदीप्त करना है, तो सुखाभासका परित्याग करना ही होगा और यही त्याग ही तप है। सुखाभासके लिये जो कल्पित तप किया जाता है, वह तप नहीं है, सजा है।

जहाँ-जहाँ सुखकी प्रतीति हो रही है, वहाँ-वहाँ विचारपूर्वक सुखाभासको हटा दो और केवल निर्वाहमात्र जिओ। सुखाभासको प्रकाशित मत करो। सुखाभास होनेपर हमें अपनेमें भोक्तापनका भ्रम हो जाता है, जबकि वस्तुतः हम भोक्ताके अधिष्ठान व साक्षी हैं।

'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।'

अनन्त भावनाको तप कहते हैं। अनन्तताकी भावना परिच्छिन्नताकी भावनाको हटाती है; जिससे पुनः सुखाभास न हो। अपनी अनन्त स्वयंतामें प्रतिष्ठित होनेके लिये जिस सुखाभासका परित्याग किया जाता है, वही तप है। हमारा लक्ष्य है— अपनी स्वयंताकी अद्वयताका अनुभव। इसी लक्ष्यके लिये सुखाभासके परित्यागपूर्वक ध्यान करना, एकाकार वृत्ति-प्रवाह बनाना तप है।

सुखाभासके तीन स्तर हैं— १. सुखाभासका निश्चय, २. सुखाभासकी प्रतीति, ३. सुखाभासका भोग। इसीप्रकार सुखाभासकी निवृत्तिके लिये भी निश्चय, प्रतीति और भोग— ये तीनों जरूरी हैं। 'विषयमें सुख नहीं है'— क्या ऐसा निश्चय करनेसे विषयमें सुखकी प्रतीति समाप्त हो जायगी? अथवा निश्चय करनेसे सुखाभासका भोग समाप्त हो जायगा? नहीं। जो विषय अच्छा लगता है, उस विषयके प्रति सुखाभासका जो निश्चय है, उसीसे ही सुखाभासकी प्रतीति होती है। निश्चय होता है बुद्धिमें, प्रतीति होती है मनमें और भोग होता है क्रियामें। 'विषयमें सुख नहीं है'— ऐसा निश्चय करनेपर भी विषयका भोग और प्रतीति बनी रहती है। प्रतीति इतनी बलवान् है कि वह सम्यक् निश्चय भी नहीं करने देती और भोगसे वैराग्य भी नहीं करने देती।

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता)

अधिष्ठान-प्रकाशकका अनुभव होनेपर विषयमें सुखका निश्चय, प्रतीति और भोग भी अध्यस्त अर्थात् मिथ्या हो जायँगे। बार-बार स्वरूपाकार वृत्ति होनेसे विषयोंमें सुखाभास निवृत्त हो सकता है। अपनेमें आनन्दका अनुभव होनेपर ही विषयमें रसकी प्रतीति और भ्रान्ति समाप्त हो जायगी।

केवल नेति-नेति करनेसे समाधान नहीं होगा। विषयमें सुखाभास न होनेपर उसका संग्रह व उसका चिन्तन समाप्त हो जायगा।

सुखाभासकी निवृत्तिके लिये 'विषयमें सुख नहीं है'— ऐसा निश्चय हो, विषय-भोगपर प्रतिबन्ध हो तथा 'मैं सुखस्वरूप हूँ'— ऐसा निश्चय व ध्यान हो। सुखका अनुभव मैं में होता है। उधर ध्यान देनेसे विषयके प्रति सुखाभासका भ्रम और आकर्षण भी समाप्त हो जायगा तथा अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि भी रहेगी। जहाँ सुख मालूम पड़ रहा है, वहाँ सुख नहीं है। जिसे सुख मालूम पड़ रहा है, वही सुख है।

अप्रियताकी प्रतीति हमें ही मालूम पड़ती है, अतः जिसे वह प्रतीति हो रही है, उधर ध्यान दो, तो सुखानुभव होगा और अप्रियताकी निवृत्ति हो जायगी। यदि अन्यत्र प्रियता प्रतीत होती है, तो भी यह देखो कि प्रियता मुझमें ही मालूम पड़ रही है। इससे आप स्वयं ही प्रिय हो जाओगे और अन्यत्र प्रियताकी प्रतीति भी कट जायगी। विषय न सुखरूप हैं और न दुःखरूप हैं। तभी वे आत्मरूप अनुभव हो सकेंगे।

मूल प्रश्न है— कौन जान रहा है निरन्तर? किसे यह सब प्रतीत हो रहा है? अपना पता न होने पर ही सारी समस्याएँ बनी हुई हैं। अपना अनुभव होनेपर हम वही हो जायँगे, जो हम वस्तुतः हैं। हम कुछ बने नहीं हैं। ब्रह्म तो हम हैं ही। परन्तु हमारा अपने ब्रह्मस्वरूपपर ध्यान नहीं था। ध्यान जाना ही ज्ञान है। जो वस्तु नित्य उपलब्ध है, उसपर ध्यान जाते ही उसका ज्ञान हो जायगा; क्योंकि वस्तु तो प्राप्त है ही।

किसी भी खोई हुई वस्तुको जब खोजेंगे, तो जब उधर ध्यान जायगा, तब वह आपको प्राप्त हो जायगी। खोजते-खोजते वस्तुपर ध्यान चला ही जाता है। जैसे, अपना यह परिचय प्राप्त कर लिया कि हम सुषुप्तिमें शेष रहते हैं; परन्तु अभी यह अनुभव नहीं कर पा रहे हैं कि हम वही हैं। अतः आप सुषुप्तिशेष पर ध्यान देते रहो। जो शेष आत्मवस्तु है, वह अन्यरूपसे मिलेगी नहीं; क्योंकि मिलते ही हम वही हो जाते हैं। बस, प्राप्त वस्तुकी प्राप्ति ध्यान जाते ही हो जाती है। फिर ध्यान देनेवाले और प्राप्त वस्तुमें भेद नहीं रहता। मैं अपनी ज्ञातताको ढूँढ रहा हूँ।

'स्वतःसिद्ध फिर साधक बनकर ढूँढत आप अपन को।'

जिज्ञासामें अन्य सब तरफसे ध्यान हट जाता है। जिसे यह सब प्रतीत

हो रहा है, उसका अनुसन्धान करनेपर वह वस्तु निर्विशेष रूपसे ही मिलेगी। जो वस्तु ग्रहण होती है, वह आत्मा नहीं है। जो भी बोलनेवाला, समझनेवाला अथवा कर्ता आदि है– वह कौन है? उधर लौट जाइये तो आपको तृप्ति व सन्तुष्टि मिल जायगी। किसे अच्छा लग रहा है, किसे बुरा लग रहा है? किसे सुख चाहिये, किसे दुःख नहीं चाहिये– यह अपनेसे पूछो, देखो और अनुसन्धान करो।

अपनी नजर अपने पर

अपनी नजर अपने पर अर्थात् आत्मसम्मुखता। अतः आत्माकारवृत्ति अर्थात् वृत्ति-निवृत्ति या अद्वयता। नेत्र और आकाशके दृष्टान्तसे जब मैं अपनेको, अपनी बृहत्ताकी इयत्ताको या स्वानन्द स्वरूपताको विषय या अनुभाव्य बनाता हूँ, तब अनेकता-विविधतारूप सुखके भ्रमका अथवा वृत्तिका उदय होता है। यही विमुखता, अज्ञान, अविद्या, अनिर्वचनीयता, माया, प्रकृति है। बस, अब संसरण अपने संविधानपूर्वक प्रवाहित होने लगता है।

निश्चय करो– आत्मा या मैं या सुषुप्तिशेषकी बृहत्ता, अद्वयता ही सुख है– आनन्द है। यही सर्वका स्वरूप है, लक्ष्य है, केन्द्र है, अभीष्ट है, इच्छाका विषय है। यही निर्णय करो, निश्चय कर स्वीकार करो। अपनेसे पृथक् किसी भी प्रतीतिमें सुखाभास होना सर्व आधि-व्याधि-उपाधि-सर्वप्रपंचका कारण है। शरीरकी प्रतीतिको आत्मरूप अनुभव करते हुए, संक्षिप्त निवास, अनिवार्य वस्त्र, सहायक वस्तुएँ तथा अनुकूल अल्पाहारकी निर्वाहमात्र व्यवस्था करो। इस निर्वाहमात्रमें भी सुखाभास ढूँढकर उसे निवृत्त करो।

सुखाभासका अनिवार्य साइड इफेक्ट प्रतिकूल वेदनाएँ हैं, जो आधि, व्याधि, प्रतिकूल परिस्थितियोंके प्रवाहरूपमें प्राप्त होती रहती हैं। अन्यता भ्रान्ति है। अन्य प्रतीति विलास है। इसलिये उसमें सुखाभास सर्व अनर्थोंका मूल है।

आवश्यकता निर्वाहकी सूचना है, इच्छा सुखाभासकी। निर्वाहमें सुखाभास न हो। निर्वाह आनन्दानुसन्धानके लिये है। आवश्यकतावाला दुःख, आवश्यकता पूरी करनेसे जाता है और इच्छावाला प्रतिकूल वेदन इच्छापर ध्यान न देकर आनन्दात्मापर ध्यान देनेसे निवृत्त होता है। इच्छा मानसिक होती है, आवश्यकता दैहिक होती है। 'जिसके बिना' सूत्र द्वारा इच्छा शान्त हो जाती है, आवश्यकता नहीं। जहाँ दुःख प्रतीत होता है अर्थात् उसमें सुखाभासका भ्रम

मौजूद है। सुख जहाँ, जब, जिसरूपमें प्रतीत होता है, वह प्रतीति जिससे हो रही है, वह सुख है। अतः तत् और इदं में सुख-दुःखका निश्चय स्वेक्षण या तदीक्षणसे शिथिल हो जायगा। अच्छा लगना माने सुखाभासकी निवृत्तिके लिये चेष्टा या स्फुरणाको लगातार आत्मरूप अनुभव करके विचार करो।

जिसे सुख चाहिये, वही स्वयं सुख है। सुखका अनुभव या सुखकी प्रतीति अपनेमें होती है। अतः स्वयंताकी ब्रह्मता-अद्वयता सुख है– ऐसा निर्विकल्प निश्चय विचारसे करके स्वयंताका अनुसन्धान करना होगा, तभी ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति और सुखाभासकी निवृत्ति सम्भव है। तभी अद्वैतभाव प्रतिष्ठित होगा। सुखाभासके भोगका सर्वथा परित्याग कर ब्रह्मात्मानुसन्धानमें तत्परतासे लग जाना चाहिये। इच्छा सुखाभासका लक्षण है। आवश्यकता या योगक्षेमकी व्यवस्था अनादि संकल्पसे स्वतः होती ही है। हमें केवल उस प्राप्त योगक्षेमकी व्यवस्था करनी होती है। 'मैं सुख हूँ'– ऐसा बार-बार विचार व भावना करना आवश्यक है। अन्यत्र, अन्यथा सुख असम्भव है; क्योंकि सुख अनुभाव्य नहीं होता। ऐसा भी बार-बार विचार करना आवश्यक है।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

प्रश्न चतुष्टय

भगवान् शंकराचार्यजी माण्डूक्यकारिका-भाष्यमें कहते हैं कि जीवन और जगत्का प्रयोजन अद्वैतभाव है। 'अद्वैतभावः प्रयोजनम्।' अद्वैतभावके बिना दुःखोंकी आत्यान्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिका अनुभव नहीं हो सकता। सबके जीवनका, सम्पूर्ण व्यवहारका और संसारका भी यही प्रयोजन है। गहरी नींदमें हम सब अद्वैत हो जाते हैं। वहाँ दूसरा कोई रहता नहीं है। जहाँ द्वैत नहीं रहता, शान्ति-सुख वहीं होता है। सारे दर्शन दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति पर ही ठहरे हुए हैं। प्रकृति और प्राकृत– सर्व अपने लिए ही हैं, पुरुषके स्वातन्त्र्यके लिए हैं। महाभारतमें एक श्लोक है-

'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् महाजनो येन गतः स पन्थाः॥'

श्रुतियाँ और स्मृतियाँ अनेक हैं, ऋषि और गुरु भी अनेक हैं। वे सब एक ही बातको अनेक प्रकारसे बोल रहे हैं। प्रक्रियामें अन्तर हो सकता है; परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है। आपको यह देखना चाहिए कि आप परमानन्दकी ओर जा रहे हैं या नहीं? दुःखोंकी निवृत्ति हो रही है या नहीं? यदि प्रयोजन पूर्ण नहीं हो रहा है तो आप सावधानीपूर्वक आत्मनिरीक्षण कीजिए। विपरीत दिशामें जानेपर प्रयोजन पूर्ण नहीं होगा।

आत्मनिरीक्षणसे आपका जीवन आपको बता देगा कि मुझे क्या चाहिए? जहाँ सुख मिलता है, मन वहाँ शान्त होने लगता है। जैसे, सुषुप्तिमें मन, बुद्धि, अहंकार शान्त हो जाते हैं। अद्वयता अवशिष्ट रहती है। इसलिए सुषुप्तिमें मनको सुख मिलता है। सुषुप्ति जैसी आत्मस्थितिके बिना मन शान्त नहीं रह सकता।

योगदर्शन, सांख्यदर्शन आदि जीवनमें खोजी गई विचारधाराएँ हैं। जीवन-दर्शनके अनुसार– जीवनमें प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि १. सर्वप्रथम हमें अपना सम्यक् परिचय होना चाहिए, २. हमारी बुद्धि भ्रममें न हो। ३. हमारे मनमें पवित्रता हो, विकार न आयें। ४. हमारी दैहिक उपाधि स्वस्थ रहे। ५. हमारा बाह्य परिवेश, व्यवहार क्षेत्र हमारे अनुकूल हो।

अनुकूलताकी खोजमें दर्शनोंका विकास हुआ है। प्राणीमात्रको सुख चाहिए, विषय नहीं। हमें शान्ति-सुख चाहिए, परमानन्दकी प्राप्ति व दुःखोंकी निवृत्ति चाहिए। इसके लिए यह आरोप करवाया जाता है कि आप भगवान्को मानो अथवा सत्कर्म करो अथवा योगाभ्यास करो। ये सब अध्यारोप सच्चाईतक पहुँचा नहीं सकते। संसारमें 99 प्रतिशत यह अध्यारोप काम कर रहा है कि दुःखोंकी निवृत्ति व आनन्दकी प्राप्ति विषयोंसे हो जायगी। जबकि ऐसा नहीं है। विषयपर सुखका अध्यारोप किया गया है, जिसके कारण भ्रान्तियाँ बढ़ गई हैं। विकार शान्त नहीं हो रहे हैं। शारीरिक रोगोंपर नियन्त्रण नहीं हो रहा है और न ही बाहरकी परिस्थितियाँ अनुकूल हो सकीं। इसमें सबसे बड़ी हानि यह हुई कि व्यक्ति अपने परिचयसे वंचित हो गया। अपना पता ही भूल गया कि मैं हूँ क्या? ईशावास्य उपनिषद्के अनुसार तो वह आत्महत्यारा है। 'ये के चात्महनो जनाः।'

अध्यात्ममें केवल चार जिज्ञासाएँ हैं। उनके समाधान अपने जीवनसे खोजिए तो आपको जीवन-दर्शन मिल जायगा और जीवनकी हर समस्याका समाधान भी प्राप्त हो जायगा। इससे आपका भ्रम-भटकाव समाप्त हो जायगा और कुछ करना नहीं पड़ेगा। इन प्रश्नोंपर विचार करनेसे व ध्यान देनेसे आपको कोई अध्यारोप या मान्यताको स्वीकार नहीं करना पड़ेगा और आप स्वयं अनुसन्धानकरके सही केन्द्रपर पहुँच जायँगे। आपके जीवनमें कोई प्रश्न शेष नहीं रह जायगा। जीवनमें पाँचों बातोंकी अभिव्यक्ति होनेके लिए चारों प्रश्नोंके आधारपर आत्मानुसन्धान करो। स्वयं अनुसन्धान करनेपर जीवनको मार्गदर्शन मिलेगा। मन लगने लग जायगा, ऊब नहीं आयेगी। विचारोंके पराधीन, कल्पनाओंके पराधीन, क्रियाओंके पराधीन, समाजके पराधीन तथा परिवारके पराधीन होनेपर जीवनमें शान्ति व व्यवस्था नहीं हो सकती।

पोजिटिव सोचो– ऐसा कहना भी आरोप है। सही तरीका क्या है– यह आपका जीवन ही बतायेगा। कई विचारक कहते हैं कि सावधान रहो। क्या मूर्खता तुम्हें सावधान होने देगी?

<u>पहला प्रश्न–</u> 'हम कुछ भी क्यों करते हैं?' यह प्रश्न आप अपनेसे पूछिये। यह जिज्ञासा आपको जीवनकी दिशा दिखा देगी और स्वयं की मांग स्पष्ट हो जायगी। इसमें किसी शास्त्रका, किसी व्यक्तिका आलम्बन मत लीजिए। अन्तिम निर्णय और स्वीकृति हमें ही करनी है। अतः अपनेसे पूछनेपर

सही निर्णय मिल जायगा। इस प्रश्नपर विचार करने व ध्यान देनेसे जीवनसे प्रमाद हट जायगा, जाग्रति आ जायगी, अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि सभी बातें इसी प्रथम प्रश्नके अन्तर्गत आ जायँगी। जब व्यर्थ बोलना, व्यर्थ सोचना, व्यर्थ करना बन्द हो जायगा, तो सारा निग्रह व संयम स्वतः होने लगेगा।

आप चलते-फिरते, उठते-बैठते अपने सभी क्रिया-कलापोंमें अपनेसे यही प्रश्न करते रहो कि 'हम कुछ भी क्यों करते, बोलते, सोचते हैं?'– इस जिज्ञासासे अनुसन्धान करनेपर जीवनका जो केन्द्र है, लक्ष्य है अथवा जीवन जो चाहता है, वह व्यक्त हो जायगा। अपनी प्रत्येक चेष्टा व इच्छासे पूर्व इस प्रश्नके करनेसे जीवन में प्रैक्टिकल समाधान होने लगेगा। किसीके कहनेसे अपनेपर कुछ भी आरोपित मत करो, किसी मान्यताको मत मानो, बस अपनी खोज करो और अपने-आपसे प्रश्न करो। गुरुको भी गुरु बनाने वाले हम स्वयं हैं। अन्तिम निर्णय हमारा है। जीवन भी हमारा है। उसमें जीना भी हमें ही है। अतः अपने जीवनसे पूछो कि तुम कुछ भी क्यों करते हो?

जीवनका सबसे बड़ा गुरु दुःख है, जो यह सिखाता है कि कैसे दुःखसे बच सकते हैं? दुःखका भोग करने अर्थात् उसका उपाय करनेपर दुःख गुरुरूप नहीं होता। दुःखका प्रभाव स्वीकार करनेपर दुःख गुरुरूप होता है। दुःखके कारणपर विचार करनेसे, उसकी खोज करनेसे, पुनः दुःखकी उत्पत्ति न हो– ऐसा प्रयास करनेसे, दुःखका प्रभाव माना जाता है। वह दुःख जीवनमें रास्ता दिखायेगा और इससे अपने भीतर विवेक जाग्रत होगा।

जीवनमें विवेक दूसरा गुरु है, जो दिशा प्रदान करता है कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है? गुरुका चयन या गुरुके बारेमें निर्णय हमारा विवेक करता है। द्वैत या व्यवहारके लिए गुरुकी जरूरत होती है। अध्यात्मके लिए गुरुकी जरूरत नहीं होती। अद्वैतके लिए गुरुको, ईश्वरको भी छोड़ना पड़ता है। तभी अद्वैत-बोध हो सकता है।

हम ज्ञानस्वरूप हैं– जब यह बात अनुभवमें आ जायगी, तभी यह लगेगा कि हमारे गुरु हम स्वयं ही हैं। सद्गुरु हमारे ही भीतर हमारी आत्माके रूपमें हैं, उनसे सम्पर्क करो। 'आत्मैव गुरुः।'

जिस कामके किये बिना, जिस बातके बोले बिना, जिस बात के सोचे

बिना आपका काम चल सकता है, आप उसे छोड़ दीजिए। आप सही अर्थोंमें संन्यासी हो जायँगे। जिसका जीवन संक्षिप्त और सुखी है, वही संन्यासी है। आप सारी उलझनोंका निवारण अपने अनुभवके द्वारा बहुत ही सरलतासे कर सकते हैं। जीवनमें जितनी भी व्यर्थताएँ हैं, चाहे वे कर्म सम्बन्धी हैं या विचार सम्बन्धी; वाणी सम्बन्धी हैं या कल्पनाओं सम्बन्धी; वे सब समाप्त हो जायँगी। इससे आप सही कर्मयोगी हो जायँगे और भीतरसे मौन हो जायँगे। 'जिसके बिना०' और 'क्यों' प्रश्नके अनुसन्धानसे तथा इसके समाधानसे जीवनमें सही सजगता प्रतिष्ठित होगी। इस प्रश्नपर ध्यान देनेसे जीवनमें क्रान्ति आ जायगी और सारे भ्रमोंसे छुटकारा मिल जायगा। इसके आलम्बनसे मुक्तताका अनुभव हो जायगा।

अपने जीवनमें ही इसका समाधान खोजो और सच्चाईको देखो। और उसीके अनुसार जिओ। समझदारीसे जीनेमें ही सन्तोष है। करने, बोलने और सोचनेमें 'क्यों' प्रश्न लगाओ तो व्यर्थके कर्मोंसे, अध्यारोपोंसे छुटकारा मिल जायगा। जीवनमें विकार मूर्खतासे ही आते हैं। मूर्खता या बेवकूफीका अन्य कोई उपाय नहीं है। बस, यही उपाय है कि जिसके बिना हमारा काम चल सकता है, उसे क्यों करें? इससे क्रोध, लोभ, काम आदि विकार अस्त हो जायँगे। इस प्रश्नसे जीवनमें संयम भी हो जायगा और स्वार्थकी हानि भी नहीं होगी। 'जिसके बिना०'– इस सूत्रसे अनायास शान्ति आ जायगी, मनोराज्य तथा स्वप्न गायब हो जायँगे। 'क्यों'का प्रश्न किसी धर्म, जाति, पन्थसे सम्बन्धित नहीं है। यह प्रश्न ऐसा है, जिससे जीवनमें शुद्धता रह जाती है और कल्पनाओं व मान्यताओंकी व्यर्थता समाप्त हो जाती है। जीवनके सभी क्षेत्रोंमें– देह, मन, बुद्धिमें संयमका प्रारम्भ हो जायगा। बस, आप ईमानदारीसे अपनेसे प्रश्न पूछते रहिए।

<u>दूसरा प्रश्न –</u> यह प्रश्न आत्मज्ञानका है। मैं कौन हूँ, जो कुछ करता, बोलता और सोचता हूँ? जो निरन्तर सबको जान रहा है, वह कौन है? स्थूल-सूक्ष्म-कारणको कौन जान रहा है? 'हम कुछ भी क्यों करते हैं?'– इस प्रथम प्रश्नसे ही दूसरा प्रश्न बना कि जो करता है, वह कौन है? जिसका जानना अनवरत है, वह कौन है? जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिको जो प्रकाशित कर रहा है, वह कौन है? यह खोज करो। यह चिन्तन करो कि ऐसी क्या वस्तु है, जो देश-काल-वस्तुको स्थूल-सूक्ष्म-कारणको निरन्तर जान रही है?

जिज्ञासापूर्वक यह प्रश्न करनेपर उधर अभिमुखता हो जायगी। अभिमुखतासे अनुभवात्मक समाधान व्यक्त होगा। सैद्धान्तिक उत्तरसे काम नहीं होगा। अपरोक्ष शैलीमें समाधान चाहिए, परोक्ष शैलीमें नहीं।

आत्मज्ञानमें देरी नहीं है; क्योंकि हम तो हैं ही। अपनी ओर लौटनेमें कोई समस्या नहीं है। बस, आप सबका ध्यान दूसरी जगह आकर्षित किया जा रहा है; इसलिये अपनेपर ध्यान नहीं जा रहा है। आप अपनेपर ध्यान दो, तो अनुभव होगा कि आप स्वयं हैं ही। हम ज्ञानस्वरूप हैं– जब यह बात अनुभव में आ जायगी, तभीयह लगेगा कि हमारे गुरु हम स्वयं ही हैं। बस, अपनी खोज करो और अपनेसे प्रश्न करो कि मैं कौन हूँ अथवा कौन जान रहा है? सत्यका पता करनेके लिए उसका अनुसन्धान करो।

इस अनुसन्धानके द्वारा जन्मोंका रास्ता कुछ ही महीनोंमें पार हो जायगा। उठते-बैठते आत्म-प्रश्नको अपने भीतर बना रहने दो। बार-बार ध्यान देनेसे जाग्रति आयेगी, आप सत्यकी ओर अभिमुख हो जायँगे। आप यह ध्यान दो कि आँख दृश्यको देख रही है, फिर आँखको कौन देख रहा है? आँखको मन महसूस कर रहा है, तो मनको कौन देख रहा है अथवा कौन जान रहा है? इसप्रकार खोजनेसे प्रत्यक् चेतनका अधिगम हो जायगा। 'योगात् योगः प्रवर्तते'– योगसे योग बढ़ता है। योगका गुरु योग ही होता है। आप जितने कदम चलोगे, आपका वह चलना आपको आगेका रास्ता दिखा देगा। व्यक्ति अपने जीवनमें ये प्रश्न स्वयंसे करना शुरु कर दे तो आत्मनिरीक्षण हो जायगा और अन्यपर ध्यान जाना भी समाप्त हो जायगा।

यदि आप सचमुच सत्यका अनुभव करना चाहते हैं तो अध्यारोप और मान्यताओंको स्वीकार मत करना। इससे अपनेपर दृष्टि जानी शुरु हो जायगी। यदि आप प्रत्यक्का अनुभव नहीं करते हो तो 'तत्त्वमसि' समझमें नहीं आयेगा। त्वं पदार्थ– प्रत्यक् चैतन्यके अनुभवके बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता तथा ब्रह्मज्ञानके बिना अद्वैतज्ञान भी नहीं आ सकता।

<u>तीसरा प्रश्न–</u> 'यह सब अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण किसमें जाना जा रहा है?' इस प्रश्नके अनुसन्धानसे अधिष्ठानका अनुभव होगा। मुण्डक उपनिषद्में 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी-०' के द्वारा अधिष्ठानके अनुसन्धान व अनुभवकी ओर इशारा किया गया है। सबका जीवन, सम्पूर्ण अधिभूत-अधिदैव और अध्यात्म, अनन्त काटि ब्रह्माण्ड किसमें प्रतीत हो रहे

हैं? जब आप यह अनुसन्धान करेंगे तो राग-द्वेष, परिच्छिन्नता समाप्त हो जायँगे। इस प्रश्नकी खोजसे अनन्तता, ब्रह्मता, अखण्डता, पूर्णताका बोध होगा। इससे पूर्व आपको चेतनताका अनुभव होगा। यदि आपको सत्यस्वरूपका सम्यक् अनुभव करना है तो आपको स्वयं खोजना पड़ेगा। 'किसमें' पर दृष्टि रखने अर्थात् जिज्ञासापूर्वक शान्त होनेसे आपको साक्षादपरोक्ष अनुभव होगा अर्थात् अपने स्वरूपकी ब्रह्मताका अनुभव होगा।

<u>चौथा प्रश्न–</u> जो सर्वरूपमें प्रतीत हो रहा है, वह क्या है? दृश्य, प्रतीति, अनुभाव्य क्या वस्तु है? जो कुछ भी जाना जा रहा है, वह है क्या? जैसे, आपके मनमें एक केला दिखाई दिया। क्या आप बता सकते हैं कि उस केलेका उपादान कारण क्या है? जिस उपादानसे मन बना हुआ है, उसी तत्त्वसे केला बना है। यहाँ केला पंचभूतोंका नहीं है। जो मनमें केला दीख रहा है, वहाँ चेतन ही केलेके रूप में प्रकाशित हो रहा है। यहाँ अद्वैतज्ञानका संकेत है। जैसे दूरदर्शनके सभी चित्र प्रकाशरूप हैं। उसमें रेखाकृति भी प्रकाश ही हैं। कम प्रकाश-अधिक प्रकाशमें ही चित्र बनते-बिगड़ते हैं। वहाँ अन्य कुछ नहीं है। प्रकाश ही सबकुछ बना हुआ है। इससे अद्वैतकी ओर दृष्टि जा सकती है। इसका अनुसन्धान करनेपर यही लगेगा कि एक ही वस्तु अनेकधा दीख रही है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।' इससे अपनी अद्वयताका बोध होगा। इसीमें पूर्णता है।

संक्षेपमें– पहले प्रश्नका नाम है– 'संन्यासयोग।' दूसरे प्रश्नका नाम है– 'आत्मयोग।' तीसरे प्रश्नका जिधर संकेत है, वह है– 'ब्रह्मयोग।' चौथे प्रश्नका नाम है– 'अद्वैतयोग।' अद्वैत माने पूर्णता। पहले प्रश्नसे जीवनमें सावधानी प्रकट होगी और निरर्थकता, व्यर्थता समाप्त होगी। दूसरे प्रश्नके अनुसन्धानसे आत्मज्ञान हो जायगा। तीसरे प्रश्नके समाधानमें ब्रह्मज्ञान हो जायगा और चौथे प्रश्नके समाधानमें अद्वयता, पूर्णताका अनुभव होगा। यही जीवनकी माँग है।

ये चारों प्रश्न निदिध्यासनके लिये हैं। निदिध्यासनके पन्द्रह अंग 'अपरोक्षानुभूति' में दिये हुए हैं। 'अपरोक्षानुभूति' और 'विवेक चूड़ामणि' भगवान् शंकराचार्यजीके ग्रन्थ हैं। उसमें निदिध्यासनकी प्राथमिकता, महत्ता बताते हुए कहा है कि श्रवण करो। श्रवणसे लाख गुना मनन करो, मननसे करोड़ गुना निदिध्यासन करो और निदिध्यासनसे अनन्त गुना स्वरूपमें स्थित

रहो। निदिध्यासनके बिना स्वरूपका अनुभव कैसे होगा और जीवन आनन्दमय कैसे बनेगा? श्रुति, युक्ति और अनुभूति यही कह रहे हैं कि निदिध्यासनसे ही आत्मसुखका अनुभव होगा और जीवन आनन्दी हो जायगा।

यदि आप चारों प्रश्नोंपर विचार व अनुसन्धान करना प्रारम्भ कर दें तो आपको मंजिल मिल जायगी और आप आत्मसन्तुष्ट, आत्माराम हो जायँगे। इसी जीवनमें और अतिशीघ्र आपको पूर्णबोध हो जायगा। 'त्वं' पदार्थका अनुभव दूसरे प्रश्नमें निहित है। 'तत्' पदार्थका अनुभव तीसरे प्रश्नसे हो जायगा। तत् त्वं असि– 'तत्त्वमसि' अर्थात् अद्वैतबोधके लिये चौथा प्रश्न है। ये प्रश्न हमारे जीवनके हैं; इसलिये जिज्ञासापूर्वक इनका अनुभव करो। जो सब शास्त्रोंका शास्त्र है, जो महात्माओंका भी महात्मा है, उस अपनी आत्माका अनुसन्धान करो। अद्वैतबोधमें ही सब समाधान हो सकते हैं।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

ध्यानसे पूर्व

शास्त्रीय कार्योंमें सर्वप्रथम संकल्प किया व कराया जाता है। इसलिये कुछ भी करनेसे पहले, कुछ भी छोड़नेसे पहले, कुछ भी जाननेसे पहले साधकको संकल्प करना चाहिये; क्योंकि सृष्टि, स्थिति व प्रलय संकल्पसे ही होते हैं। सृष्टिके संकल्पका नाम ब्रह्मा है। पालनके संकल्पका नाम विष्णु है तथा संहारके संकल्पका नाम शंकर है। यदि कोई साधक संकल्प न करना चाहे तो वह इन देवोंका स्मरण कर ले, इससे भी प्रयोजन सिद्ध हो जायगा; क्योंकि आदिमें ही यह निश्चित कर दिया गया है कि आप यदि जीवनमें से कुछ मिटाना चाहते हैं अथवा प्रतिकूल परिस्थितिको हटाना चाहते हैं, तो आप शंकरजीका स्मरण कीजिये; क्योंकि वे प्रलयके देवता हैं। अगर आप अपनी किसी स्थितिमें निरन्तरता बनाये रखना चाहते हैं तो आप विष्णुका स्मरण कीजिये अथवा संकल्प कीजिये, जो ध्यान करनेके लिये आवश्यक है।

भक्तिमें तथा ज्ञानमें भी पहले प्रार्थना ही की जाती है। इससे साधकको लक्ष्य-प्राप्ति हेतु एक दिशा मिलती है, जो साधकका मार्ग प्रशस्त करती है। संकल्प अथवा प्रार्थनासे परमात्माका ज्ञान सम्भव है। अज्ञान अथवा मोहकी कितनी भी गहरी परत अन्तःकरणपर जमी हो, वहाँसे भी वह आपको जाग्रत कर देगा। जैसे यदि आप 3 बजकर 48 मिनट पर उठनेका संकल्प करके सो जायँ, तो ठीक उसी समयपर आपकी आँख खुल जायगी, चाहे आप उठें या फिर सो जायँ। विचारणीय यह है कि घनघोर अंधकार व गहरी निद्रासे आपको किसने जगाया? स्पष्ट है कि संकल्पने; क्योंकि वहाँ अन्य तो कोई था ही नहीं, जो घड़ी देखता। यह संकल्पकी महिमाका एक नमूना है। ठीक इसीप्रकार आपका संकल्प आपको भटकनेसे बचा लेगा और भटकनेकी जो परिस्थितियाँ आप बना रहे हैं, उन्हें बनने नहीं देगा; क्योंकि आपने पहले बुद्धिपूर्वक अथवा श्रद्धापूर्वक संकल्प किया है।

ध्यान करनेसे पहले संकल्प करें– 'हे सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय परमात्मा! आप सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें उपस्थित हैं। हे सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सृष्टि-स्थिति-प्रलयके करनेवाले, सर्वकारण

अकारण भगवान्! मैं ज्ञानका आदर करूँ। मेरा मन या प्रकाशन अपने आश्रय आनन्दप्रकाशके प्रति अभिमुख हो, जिससे मुझे पूर्णताका, स्वयंताकी अद्वयताका सम्यक् अनुभव हो। हे चैतन्य चिन्तामणि! मैं आपकी शरणमें हूँ।'

अज्ञान व अन्धकारमें से जगानेवाला संकल्प ही है। यदि आप उक्त संकल्पमें प्रयुक्त शब्द या वाक्यका अर्थ नहीं भी जानते हैं, तो भी आपका काम हो जायगा।

मनुष्यका मन हरसमय सुखकी ही खोज कर रहा है, उसका रोम-रोम यही चाहता है। अन्तःकरणकी प्रत्येक वृत्ति इसीमें लगी है। हमारा ध्यान उधर न होनेके कारण हमें इसका पता नहीं चल रहा है। आत्मनिरीक्षण न करनेके कारण, दूसरेकी तरफ या संसारके विषयोंकी तरफ ध्यान होनेके कारण तथा उनमें भ्रमवश सुख आरोपित करनेके कारण संसारमें सुख ढूँढा जा रहा है; जबकि आजतक वहाँसे किसीको सुख प्राप्त नहीं हुआ है। यदि धनमें सुख होता तो धनी सुखी होता। स्त्री-पुरुषमें यदि सुख होता तो विवाह करनेवाले सुखी होते। विषयोंमें सुख ढूँढनेवाला एक भी व्यक्ति सुखी दिखायी नहीं देता। गुरु नानकका अनुभव है कि 'नानक दुखिया सब संसार।' श्रीकृष्णका अनुभव है कि 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' है। उनके पास अनेक रानियाँ थीं तथा ऐसी मणि थी जो रोज सोना पैदा करती थी तथा सुदर्शन चक्र ऐसा आयुध था कि विश्वमें उसका मुकाबला करनेवाला कोई आयुध अभीतक नहीं है। उनका जीवन कितना परेशान व दुःखी रहा। श्रीकृष्णके जन्मकी सूचना मिलते ही उनके माता-पिताको जेलमें डाल दिया गया। भगवान्‌को स्मरण करनेसे तो दुःख मिटता है; लेकिन यहाँ तो दुःख शुरु हो गया। उनके सालेको उनके बड़े भाई बलदेवने मार दिया। उनकी पत्नी कितनी नाराज हुई। इसके अतिरिक्त उनकी पटरानियोंके आपसी झगड़े तथा उनके पुत्रका अपहरण होना। इतने दुःखोंके कारण ही उन्होंने संसारको 'अनित्यम्, असुखम् लोकम्' कहा है अर्थात् इस अनित्य व असुख लोकको प्राप्तकरके जो मेरा भजन नहीं करेगा, वह दुःख-सुखके प्रवाहमें बहता रहेगा। बलदेव जैसा शक्तिशाली भाई होते हुये भी कितनी बार संकटोंका, असुरोंका सामना उन्हें करना पड़ा। वस्तुतः अद्वैतभाव ही जीवनका प्रयोजन है। गोपियाँ श्रीकृष्णसे कितना प्रेम करती थीं। वे श्रीकृष्ण यानि सुखसे एक होना चाहती थीं, दूरी नहीं चाहती थीं। वे दुःख सहते हुए भी

प्रेम करती रहीं।

साधनाकी भी कक्षाएँ होती हैं। जैसे शिक्षामें, धन कमानेमें कक्षाएँ मानते हो। कीर्तन करने वालेको अगली कक्षा जपमें आना चाहिए और जपवालेको ध्यानकी कक्षामें आना चाहिए और ध्यानवालेको ज्ञानकी कक्षामें प्रवेश करना चाहिये। हमारा लक्ष्य परमानन्द है, जो कभी मिटे नहीं, सदा बना रहे। उस सुखका नाम परमात्मा है। ऐसा सुख जिसमें दुःखका स्पर्श व उसकी याद भी न हो– यही हमारा लक्ष्य है। उसे प्राप्त करनेके लिये ही सारे अध्यात्म व दर्शनोंका आविष्कार किया गया और वे सब उधर ही दिशा दे रहे हैं।

सब जानते थे कि अर्जुनको जीतना असम्भव है; क्योंकि उसका सारथी भगवान् हैं। इसी प्रकार यह संकल्प भगवान् है। यह सारथीका काम करेगा। आपको ठीक दिशामें ले जायेगा, इधर-उधर भटकने नहीं देगा। जब भी कोई प्रतिकूलता आयी है, भक्तोंने उसे ही पुकारा है। ज्ञानियोंने अपने आत्माका स्मरण किया है। भगवान् व आत्मा पर्यायवाची हैं। भगवान् कोई आदमी नहीं हैं। वह एक तत्त्व है और वह सर्वत्र, सर्वदा व सर्वरूपोंमें है। ये लक्षण आदमीके नहीं हो सकते। उसे भगवान्, परमात्मा, ब्रह्म, आनन्द, आत्मा किसी भी शब्दसे कह सकते हैं। गुरु व्यक्तिके रूपमें आपके सामने है, वह कभी रहेगा, कभी नहीं। संकल्प सदा आपके साथ रहेगा, जबतक आप रहेंगे।

आनन्द ब्रह्म ही सबका लक्ष्य है। सबका यही केन्द्र है। कीड़े-मकोड़ेका भी। यहाँतक कि जड़ताका भी यही लक्ष्य है। सभी इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहते हैं। जबतक हमारा ध्यान उस तरफ नहीं जाता, तभीतक वह अप्राप्त है। यदि आप ज्ञानका आदर करते हैं तो आप गुरुका, ईश्वरका, सत्यका भी आदर करेंगे। आप अनुशासित नहीं हैं यानि ईश्वरके भक्त नहीं हैं। गुरुका शिष्य वही है, जो गुरुके आदेशके अनुशासनमें रहे।

ध्यान कैसे करें?

अन्तःकरण-शुद्धिके लिए सबसे पहले संकल्प किया जाता है। हमारा लक्ष्य है– दुःखोंकी आत्यान्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति। इसलिए अद्वैतभाव ही जीवनका प्रयोजन है। भेद-भिन्नता हम लोग नहीं चाहते। गोपियोंको श्रीकृष्णसे बहुत प्रेम था अर्थात् गोपियोंको उनसे सुख मिलता था। सुख मिलनेपर ही व्यक्तिका प्रेम बना रहता है। वे कहती थीं कि 'श्रीकृष्ण! तुम

हमें इतने अच्छे लगते हो कि हम नेत्रोंके द्वारा तुम्हारे रूपको पी जाना चाहती हैं। इसका अर्थ है कि वे श्रीकृष्णसे एक होना चाहती थीं। इसके लिए आपको विचार करना चाहिए। अन्तमें कुछ रहनेवाला नहीं है, केवल समझदारी ही काम आती है।

हमारा लक्ष्य परमानन्द है। जो एकबार मिलनेके बाद मिटे नहीं, ओझल न हो और निरन्तर बना रहे; उस सुखका नाम ही भगवान् है। भगवान् माने परमात्मा। अद्वयज्ञान ही भगवान् है। अद्वयज्ञान माने जिसके सिवा और कुछ न हो। अर्जुनके सारथि भगवान् श्रीकृष्ण थे। इस बातको देखकर भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि सब मानते थे कि अर्जुनको जीतना मुश्किल है। इसी तरह आपको जो संकल्पके बारेमें बताया गया है, यह आपके लिए एक सारथिका काम करेगा, यह आपको सही दिशामें ले जायगा, आपको इधर-उधर भटकने नहीं देगा। अगर तुम यह निर्विकल्प होकर करोगे, तब दूसरा भी कोई बाधा नहीं दे सकेगा। यह संकल्प आपकी सभी नकारात्मक परिस्थितियोंको बदल देगा। इसलिए ध्यान करनेसे पूर्व इस संकल्पको कीजिए। भगवान् वह तत्त्व है, जो सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें है। जो लक्षण परमात्माके हैं, उनके आधारपर वह कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। आप उस तत्त्वको आत्मा, ब्रह्म या चेतन कुछ भी कह सकते हैं। अपरिवर्तनशीलताको कौन नहीं चाहेगा? सबको सर्वदा सुख चाहिए। चाहे जाग्रतमें हो, स्वप्नमें या सुषुप्तिमें हो। आपको समझाने वाला किसी समय आपके पास हो या न हो, परन्तु संकल्प हमेशा आपके पास रहेगा और आपको दिशा देगा।

तुम्हारी सभी वृत्तियाँ कहाँसे उदय होनेके बाद कहाँ लय हो जाती हैं? जिसमें तद्रूप हो जाती हैं, वही परमात्मा है, वही तुम हो। यदि आप इस बातको समझकर ध्यान करेंगे, तो आप जीवनसे जिसको हटाना चाहेंगे, वह हट जायगा और जिसको लाना चाहेंगे, वह आ जायगा। परमात्मा अर्थात् आत्मा या वह आनन्द जो आपको चाहिए, वह अभी है, सब जगह है और सब समय है। वह आपके रूपमें भी है और सर्वरूपोंमें भी है। फिर उसके मिलनेमें एक ही कठिनाई है कि आपको इसकी जिज्ञासा नहीं है और इधर ध्यान नहीं है।

लोग किसका आदर करते हैं— वासनाओंका, मनका और कल्पित

इच्छाओंका। अपने मनको ही सबकुछ मानते हैं। 95% दुःख बेवकूफीके कारण ही होते है। 95% समस्याएँ समझदारीसे हल हो जायँगी। समझदारीका अभिमान सबके पास होता है और यही सबसे बड़ी बेवकूफी है। यदि आप समझदारीसे चलें, तो दुःख आपको स्पर्श भी नहीं कर सकते। इसीलिए हम ज्ञानका आदर करें। यदि आप ज्ञानका आदर करेंगे, तो आप गुरुका भी आदर करेंगे और सत्यका भी आदर करेंगे। ईश्वरका भक्त व गुरुका शिष्य कौन होता है? जो ईश्वरके अनुसार चले, वह ईश्वरका भक्त और जो गुरुके आदेशानुसार चले, वह गुरुका भक्त है। यहाँ प्रकाशनका तात्पर्य आत्माके प्रकाशनसे है। वही सबको प्रकाशित करता है, देखता है, व्यवहार करता है, उसको आप सभी लोग मन कहते हैं; परन्तु उसका सही अर्थ है— प्रकाशन। मन या प्रकाशन जहाँसे उदय होता है तथा जहाँपर लय होता है, वह उसका आश्रय होता है। जैसे घड़ा मिट्टीसे बनता है और मिट्टीमें ही लय होता है। अतः मिट्टी उसकी आश्रय हुई। इसी प्रकार हमारा आश्रय भगवान् हैं। हम भगवान्से ही उत्पन्न हुए हैं और उन्हींमें ही लय हो जायँगे। अतः उस आश्रय— अधिष्ठानकी ओर हमारी उन्मुखता हो जाय। निदिध्यासन प्रत्यक् प्रवणता है। जिज्ञासासे आत्माकी ओर आपका ध्यान चला जायगा। ध्यान केवल इसीलिए किया जाता है कि हमारा ध्यान आश्रय प्रकाशनकी ओर उन्मुख हो जाय।

ध्यान-विधि— प्रतिदिन गहरी नींदका अनुभव सभीको है। बस उसीको हमें जाग्रत अवस्थामें भी याद करना है; क्योंकि हमें याद उसीकी आती है, जिसका हमें अनुभव हो। सुषुप्तिमें शान्त अवस्था होती है या नहीं? क्या आप उसे जाग्रत अवस्थामें याद कर सकते हैं? गहरी नींदकी महाशान्तिको जाग्रत अवस्थामें स्मरण करना स्वरूपस्थिति है।

'हे सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय परमात्मा!' इस वाक्यका मधुर और धीर-गम्भीर वाणीसे मन-मनमें उच्चारण करो और जब वाक्य पूरा हो जाय, तब आप कुछ क्षण गहरी निद्रा वाली शान्तिका ध्यान करो। मनको पराक् प्रवणतासे प्रत्यक् प्रवणताकी ओर कर रहे हैं अर्थात् हमारा ध्यान विषयोंकी ओर जा रहा है, उधरसे अपने मनको लौटाकर द्रष्टाकी ओर, दृककी ओर ले जा रहे हैं। इसकेलिए ही हमने सुषुप्तिमें जो शान्ति रहती है, उसका आलम्बन लिया। सुषुप्तिकी शान्तिकी तरफ ध्यान देनेसे कुछ क्षण प्राण रुक जाते हैं।

जितनी देरतक वृत्ति रुकेगी, उतनी देर प्राण अनिवार्यरूपसे रुकेगा। प्राणनिरोधसे वृत्तिनिरोध यह हठयोग है और वृत्तिनिरोधसे प्राणनिरोध यह राजयोग है। विचारों (वृत्ति) के रुकनेपर ही शक्ति और ऊर्जाका उदय होता है। अतः ध्यानमें एकाग्रता व जाग्रतिकी विशेषता होती है। जब आप निर्विचार रहकर शान्तिकी ओर ध्यान देंगे, तब आपका ध्यान बढ़ता चला जायगा। जैसे ही आप सुषुप्तिशेषकी ओर ध्यान देंगे, आप शान्त और पूरी तरहसे निर्विकल्प हो जायँगे। उस निर्विकल्प अवस्थामें वाक्यका अर्थ आपके अन्तर्मनमें (Conscious Mind) में पहुँच जायगा।

मुण्डक उपनिषद्‌में बताया गया है कि केवल वरणसे ज्ञान होता है, श्रवणसे, बुद्धिसे, मननसे भी नहीं। **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न** बहुना श्रुतेन-०' वरण अर्थात् स्वीकृति कैसे होगी? 'मैं निर्विशेष हूँ।' यह स्वीकृति कैसे होगी? स्वीकृति अन्तर्मनसे होती है। इसमें बाहरकी स्वीकृति काम नहीं करती। जैसे एक व्यक्ति मर गया। उसके मरनेका दृढ़ निश्चय होनेपर भी वह आपको स्वप्नमें दीखता है। आप उससे स्वप्नमें व्यवहार करते हो। यदि वह मर गया है तो आपको स्वप्नमें नहीं दीखना चाहिए; क्योंकि आपके निश्चयकी गति स्वप्नतक भी नहीं पहुँची है, तब सुषुप्ति और स्वीकृतितक कैसे जायगी? उदाहरणके लिये एक लड़कीको यह पता चला कि उसकी सगाई हो गयी है तो वह एक सेकेण्डमें ही स्वीकृति दे देती है कि अब मेरी शादी हो जायगी और किसीकी पत्नी बन जाऊँगी। क्या यह स्वीकृति देने में उसे समय लगा, बिल्कुल नहीं। ऐसी ही स्वीकृति करनी है। जो निरहंता सुषुप्तिमें रहती है, वही आपको जाग्रत अवस्थामें अनुभव करना है। तब आपकी उस स्थितिसे स्वीकृति हो जायगी। यदि सुषुप्तिके सुखका आलम्बनलेकर ध्यान किया जाय तो तत्काल ध्यान लगना शुरु हो जाता है। बिना आलम्बनके ध्यान नहीं लगता। यही धारणा है। भागवतमें श्रीकृष्णजीने बताया है–

'मद्धारणाम् धारयतः का सा सिद्धि सुदुर्लभाः।' मेरी धारणा करनेवालेको ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो दुर्लभ हो।' धारणामें श्वास रुकने लगता है। सभी व्यर्थकी वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं और आनन्द आने लगता है; क्योंकि वहाँ अहंकार शान्त हो जाता है। अपना अहंकार छोड़कर ध्यान को बढ़ाना चाहिए तो आनन्द व्यक्त हो जायगा। अहंकार क्या है जो परिच्छिन्नताके

कारण अनेक अभिमान धारण कर लेता है? यह अहंकार परमात्मा है। **'जीवो** ब्रह्मैव नापरः।' 'तुम परमात्मा हो'– ऐसी दृष्टि रखनेसे यह अहंकार प्रत्यक्‌की ओर लौटकर शान्त हो जायगा।

योगदर्शन भाष्यमें एक श्लोक आया है– 'योगात् योगः प्रवर्तते'– अर्थात् योग ही योगका गुरु है। योग करनेसे ही आपको मार्गदर्शन मिलेगा और आपकी प्रगति होगी। जैसे सामनेका रास्ता नहीं दिख रहा है, केवल सड़क या पेड़तक ही दिख रहा है तो आप जब सड़क या पेड़तक जायँगे तो आपको उससे आगेका रास्ता दिखने लगेगा। और आगे जायँगे तो और आगेका रास्ता दिखने लगेगा।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

ध्यानके विषयमें

मनुस्मृतिमें आया है कि सबकुछ ध्यानिक है, जिसको जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह ध्यानसे ही प्राप्त हुआ है। आपको जो कुछ प्राप्त करना हो या छोड़ना हो; सबके लिए एक ही उपाय है– ध्यान। जिसे छोड़ना हो, आप उधर ध्यान मत दो और जिसे सामने लाना हो, उधर ध्यान देते रहो। यदि आप यह चाहते हो कि वह वस्तु या व्यक्ति हमारे जीवनमें बना रहे तो आप बार-बार उधर ध्यान देते रहो। आसक्तिका भी यही सिद्धान्त है कि यदि आप किसीकी तरफ बार-बार ध्यान देंगे तो आपकी उसमें आसक्ति हो जायगी। बार-बार किसी चीजको याद करनेसे उसमें प्रीति हो जाती है। कोई चीज समझमें नहीं आती तो उसके लिए भी ध्यानसे समझना पड़ेगा। ज्ञानके लिए भी ध्यान ही चाहिए। परमात्मा और जगत् भी ध्यानसे ही मिलता है। यह सब ध्यानिक है अर्थात् सत्य नहीं है। जिसने जिस चीजका ज्यादा ध्यान किया, वह वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है।

हमारे पास दो चीजें हैं– एक तन और एक मन। तनको तो निर्वाहमात्र चाहिए। इससे अधिक वह कुछ नहीं चाहता। दूसरी चीज है– मन। उसे चाहिये सुख, जो सुषुप्तिसे मिलता है। सम्यक् ध्यानमें शरीरकी, मनकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी, परिस्थितियोंकी, किसीकी भी अपेक्षा नहीं है। मात्र सुषुप्ति-सुखकी ओर ध्यान देना है। ध्यान अर्थात् उस सुखकी यादको प्रवाहित करना। बार-बार आनन्दका ध्यान करनेपर हमारे जीवनमें शक्तिका उदय हो जाता है। सुख कैसे मिलेगा? इसका एक निर्विवाद निष्कर्ष आपको बताया जा रहा है कि सुखके ध्यानसे ही सुख मिलेगा। सुख मिलनेका अन्य कोई उपाय नहीं है। जो आनन्द सर्वत्र, सर्वदा है, वह ध्यान करनेसे ही व्यक्त होगा। ध्यानकी आवश्यकताको स्वीकार करो। व्यक्ति एक क्षण भी बिना सुखके नहीं रह सकता। आनन्द ही आपका स्वरूप है, उसके बिना आपका अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकारकी आवश्यकताका अनुभव करो। उसको प्राप्त करनेके लिए यह निश्चय करो कि आनन्द ध्यानसे ही प्राप्त होगा। यदि आप इसको किसी और बातपर टालते हो

तो वह विकल्प होगा। सुषुप्तिके सुखपर ध्यान देनेसे आनन्द प्राप्त होगा। यह ऐसा आनन्द है, जिसमें कोई विकल्प नहीं है और निरपेक्ष है। जब हम ध्यान करते हैं, तब हमें अपने शरीरको, इन्द्रियोंको भूलना होता है। मन भी वहाँ शान्त हो जाता है और बुद्धिकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती अर्थात् यह ध्यान अनात्माके आलम्बनसे प्राप्त होनेवाला ध्यान नहीं है। यह सीधे-सीधे अपने स्वरूपकी ओर रुझान है। इस रुझानमें बस एक ही कठिनाई है– अपनी चालाकी और श्रद्धाकी कमी। आदेशसे और अनुशासनसे आपको कुछ भी कठिनाई नहीं आयेगी।

चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि 'अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा।' आधे रोगोंको सुषुप्ति मिटा देती है और सम्पूर्ण रोगोंको भूख मिटा देती है। भूखे रहनेका अर्थ यह नहीं है कि आप भोजन न करें। इसका अर्थ यह है कि आप बस उतना ही खायें जितना पचा सको। भूखे रहनेका अर्थ है– अग्निका प्रदीप्त रहना। अग्निको ही जिज्ञासा कहा जाता है। गहरी नींद और भूखमें ही स्वास्थ्यका रहस्य छिपा है। इससे ध्यान लगेगा और ध्यानयोगसे स्वास्थ्य बनेगा। कोई भी बाधा आये तो आप चेतनपर ध्यान दीजिए। आनन्द ही चेतन है। इस ध्यानसे एकाग्रता और जाग्रति मिलेगी। एकाग्रता सारी सिद्धियोंका मूल है। ये जाग्रति और एकाग्रता आनन्दका ध्यान करनेमें उपलब्ध है। इसमें एकाग्रतापूर्वक सजगता है और सजगतापूर्वक एकाग्रता है। जो आनन्द है, वही सत् है, चित् है, ईश्वर है, वही ब्रह्म है और वही अद्वय है। श्रद्धासे या अनुशासनसे आप इसे करें। जो लोग यह कहते हैं– 'हमसे नहीं होता।' उसका अर्थ यह है कि वे करना नहीं चाहते। सुख कौन नहीं चाहता और आपको उसका अनुभव भी है। आपको उसकी याद ही तो करनी है और बार-बार याद करनेका, ध्यान करनेका प्रवाह बनाना है।

योगका अर्थ है– गतिसे स्थितिकी ओर जाना। इसलिए अपने शरीरको हिलाये बिना जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो; क्योंकि ध्यानमें शरीरकी आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियोंको भी जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो। इसकी भी हमें आवश्यकता नहीं है। मनको सुख चाहिए और उसको हम ध्यानके द्वारा सुख देते हैं। इसमें विचार या विवाद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जहाँसे सारे विचार उत्पन्न होते हैं और जहाँ जाकर सारे विचार लय हो जाते हैं, हम

उधरकी ओर ही जा रहे हैं। जाग्रत और स्वप्नमें जो अहंकार है, वह भी अपने मूलकी ओर ही जा रहा है। 'मूलमन्विच्छ' मूलका ही अनुसन्धान करो। जो सुषुप्तिमें शेष रहता है, वही मूल है। आपको अपनी ओर लौटना है और अपनी ओर लौटनेको निदिध्यासन कहते हैं। इसलिए आप जैसे और जहाँ हैं, वहींपर गहरी निद्राके सुखकी ओर ध्यान देना है। हम सब प्रयासोंसे मुक्त होनेका उपाय कर रहे हैं। जो आपको संकल्प बताया गया है, वह भी इसी रास्तेसे ही साकार होगा। प्राज्ञके ध्यानसे हम निर्विशेषकी ओर जा रहे हैं। एक-एक शब्द जबतक चेतनके सामने प्रकाशित नहीं होगा, तबतक उसको आकार नहीं मिलेगा। आप चेतनके सामने जो भी बात रखेंगे, पहले वह सगुण और फिर साकार होगी। आपके जीवनमें वह दिखाई देने लगेगी। धीरता और गम्भीरता आनन्दका ध्यान करनेसे आती है। संकल्पका हर एक वाक्य धीर-गम्भीर मध्यमा वाणीमें बोलना है, वैखरी वाणीमें नहीं। बोलकर शान्त होकर, सुखपर ध्यान दीजिए। अपना आत्मनिरीक्षण भी करते रहें कि क्या हमारी आनन्दकी ओर दृष्टि बनी है? इससे विचार आने बन्द हो जायेंगे और आनन्द की ओर दृष्टि जाने लगेगी और आपकी जाग्रति भी बढ़ जायगी। यदि आप अपनी युक्तियाँ लगायेंगे तो विघ्न आने शुरु जायेंगे।

चेतनकी भावना करनेसे चेतनका साक्षात्कार होता है और विघ्नोंकी निवृत्ति हो जाती है। ततः प्रत्यक् चेतना अधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। सूत्र कहता है कि विघ्नोंकी निवृत्ति के लिए अन्य उपाय नहीं करना है, बल्कि इसी संकल्पको बार-बार करना है। इससे विघ्नों की निवृत्ति भी हो जायगी और प्रत्यक् चेतन अर्थात् आत्माका अधिगम भी हो जायगा। यदि आपने अन्य उपाय किये, तो यह अनन्यता नहीं, अपितु विकल्प होगा। आप इस विधिसे ध्यान करते हैं, तो आपको कोई विघ्न नहीं आयेंगे। अवान्तर उपाय भी एक विघ्न ही है।

रमण महर्षिका एक श्लोक है– भावेहमः सर्वमिदं विभाति०– अहंकारके उदय होते ही सब कुछ दिखता है और अहंकारके लय होते ही सब कुछ मिट जाता है। यह सबका अनुभव है। निगेटिवकी तरफ ध्यान मत दो कि आपमें और मुझमें क्या अन्तर है? बल्कि इस बातपर ध्यान दो कि हम दोनोंमें क्या समानता है?

ॐ ब्रह्म सर्वम्

प्रसुप्ति-शेषका ध्यान

श्रुति-वाक्य है– आनन्दश्च संवेद्यः। आनन्दका सम्यक्रूपसे अनुभव करना चाहिए अर्थात् आनन्द ही अनुभव करने योग्य है, अन्य कुछ नहीं। आनन्द ही अनुसन्धेय, ज्ञेय, ध्येय, प्रेय, श्रेय, सम्वेद्य है। अर्थात् जाननेयोग्य, प्रेम करने योग्य, ध्यान करने योग्य है। आनन्दका ही चिन्तन और अनुसन्धान करना चाहिए। आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। सुषुप्ति वाला आनन्द ही स्वरूपानन्द है; क्योंकि आनन्द जहाँ भी होता है, वह अपने स्वरूपसे ही होता है। आनन्द आपका ही स्वरूप है। सुषुप्तिमें जो सुखका अनुभव है, वह आप ही है। यदि आप कुछ जानना चाहते हैं, तो अपने इस आनन्द स्वरूपको जानिये। इसीकी ओर ध्यान देते रहिये। इससे अधिक पोजिटिव और क्या होगा?

जाग्रत और स्वप्नमें हम अपने स्वरूपको नहीं पहचान पाते; परन्तु सुषुप्तिमें जो अविनाशी और अक्षर वस्तु शेष रहती है, उसका परिचय हमें सुषुप्तिसे हो सकता है। आप हठसे, आज्ञासे, मजबूरीसे चाहे जैसे भी ध्यान करें। थोड़ी देरका ध्यान ही अनन्त हो जायगा; इसलिए आपको प्रारम्भ तो करना ही पड़ेगा। आनन्द अविषय होता है।

शिवपुराणमें नारदजीके ज्ञानका प्रसंग है। नारदजीको ब्रह्मबोध नहीं था। वे जब ऋषियोंसे मिलते तो इस प्रसंगमें वे मौन हो जाते थे। तब उन्हें विचार आया कि 'मैं विद्वान् तो बहुत बड़ा हूँ; परन्तु मेरे जीवनमें एक यह कमी है कि मुझे स्वयंका बोध नहीं है। मैं चर्चाएँ तो बहुत कर लेता हूँ, परन्तु जब अनुभवकी बात आती है, मैं वहाँपर मौन हो जाता हूँ।' वह अपने पिताजी ब्रह्माजीके पास गये और उनसे कहा कि मुझे ब्रह्मज्ञान करा दीजिए। ब्रह्माजीने कहा कि 'तुम इसके योग्य नहीं हो।' उसके बाद नारदजी विष्णुजीके पास गये। उन्होंने भी यही जवाब दिया। फिर शंकरजी के पास जानेपर उन्होंने भी वही जवाब दिया। अब उन्होंने युक्ति लगाई कि जो तीन शक्तियाँ हैं– लक्ष्मीजी, पार्वतीजी और सरस्वतीजी, इनके पास जाना चाहिए। पहले वे सरस्वतीजीके

पास गये और पूछा कि 'माता! क्या आपको ब्रह्मज्ञान है?' सरस्वतीजीने पूछा– 'यह क्या होता है?' नारदजीने कहा– 'आप ब्रह्माजीके पास रहती हैं और आपको इसके बारेमें ही पता नहीं।' सरस्वतीजी ब्रह्माजीसे बोली– 'स्वामी! मैं तो आपकी अर्धांगिनी हूँ, तब भी आपने मुझे ब्रह्मज्ञानसे वंचित क्यों रखा हुआ है?' उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे अन्दर वह योग्यता नहीं है।' तो वह नाराज हो गयीं। सरस्वतीजी बोलीं– 'ठीक है! आप मुझे नहीं करायेंगे तो जिस प्रकारसे आपने इसे प्राप्त किया है, मैं भी वैसे ही प्राप्त करुँगी।' वह अनुष्ठान आदिमें लग गयीं। उसके बाद नारदजी लक्ष्मीजीके पास गये और पूछा 'माता जी! आपके पास शक्तियाँ तो बहुत हैं, परन्तु क्या आपके पास ब्रह्मज्ञान है?' लक्ष्मीजी ने कहा– 'नहीं।' तब नारदजी ने कहा कि 'फिर आप अपने स्वामी विष्णुजीसे पूछिये।' लक्ष्मीजीने विष्णुजीसे कहा तो उन्होंने कहा कि 'तुम इसके योग्य नहीं हो।' तो वह नाराज हो गयीं और आँखें बन्द करके बैठ गईं कि 'मैं भी अब इस ज्ञानको जानकर रहूँगी।' नारदजी पार्वतीजीके पास गये और पूछा– 'माताजी! आप तो यह कहती हैं कि शंकरजी मुझसे द्वैतभाव नहीं रखते। क्या आपको ब्रह्मज्ञानके बारेमें पता है?' माताने कहा– 'नहीं! शंकरजीने मुझसे यह बात कैसे छिपाई। अभी मैं उनसे पूछती हूँ।' उन्होंने शंकरजीसे कहा कि 'आप अपनी अर्द्धांगिनीसे द्वैतभाव रखते हैं। आपने मुझे ब्रह्मज्ञान कभी बताया ही नहीं।' शंकरजीने कहा– 'तुम उसे धारण नहीं कर सकोगी।' पार्वतीजीने कहा– 'ठीक है। मैं अब योग्य बनूँगी। आप स्वयं कार्तिकेयको, गणेशको और कैलाशको संभाल लेना। मैं तो अब एकान्तमें तपस्याके लिये जा रही हूँ।'

नारदजी शंकरजी के पास गये और बोले– 'प्रभु! आप माताको और मुझे भी ब्रह्मज्ञान करवा दीजिये।' उन्होंने कहा कि 'तुम अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास क्यों नही जाते? वह तुम्हें बोध करवा देंगे।' नारदजी बृहस्पतिजीके पास गये तो उन्होंने कहा– 'वह तो मुझे भी अनुभव नहीं है। पर तुमने याद दिलाया है, तो ठीक है, मैं पृथ्वीलोकमें राजर्षियोंके पास जाता हूँ।' उपनिषदोंमें यह आया है कि वह विद्या राजर्षियोंसे ब्रह्मर्षियोंके पास और क्षत्रियोंसे ब्राह्मणोंके पास गई है। इतनी बढ़िया और दुर्लभ वस्तु अवश्य ही प्राप्त करने योग्य है। शंकरजीने विचार किया और वे पार्वतीजीके पास आये,

जहाँ वह तपस्या कर रही थीं। उन्होंने कहा– 'यदि तुम्हारा आग्रह है, तो मैं तुम्हें ब्रह्मबोध करानेका प्रयास करुँगा।' और वे दोनों एकान्तके लिए अमरनाथकी गुफामें चले गये और आस-पासके सभी पक्षियोंको उड़ा दिया। सबके हटनेके बाद एक शापित कबूतर, जो ब्रह्मज्ञानके लिए प्रयास कर रहा था, वह वहीं बैठा रहा।

तात्पर्य यह है कि जैसा उस गुफामें शान्ति और एकान्त बताया गया है, वही सुषुप्ति है। शंकरजीने पार्वतीजीसे कहा कि 'मैं योगयुक्त होकर तुम्हें उपदेश करुँगा, अन्यथा तुम्हें बोध नहीं होगा। मेरा संकल्प और तुम्हारी श्रद्धा मिलकर शक्तिपात हो जायगा। तुम सुनते हुए वैसी वृत्ति बनाती रहना, जैसे मैं बोलता रहूँ। जैसे ही मैं एक बात पूरी कर लूँ, तुम 'हूँ-हूँ' कहती रहना अर्थात् ओमिति-ओमिति करती रहना।' पहले उन्होंने सारे विश्वकी और अध्यात्मकी भूमिका बनाई। जब निदिध्यासनका समय आया। उस समय वृत्ति बनना बहुत आवश्यक था। तब उनकी वृत्तिको प्रत्यक्की ओर लौटाने के लिए उन्होंने निर्देश देने शुरु किये और इतनेमें ही पार्वतीजीको नींद आ गयी। शंकरजी भी सारी वृत्तियाँ प्रत्यक्की ओर लौटाकर स्वयं भी शान्त हो गये और वह कबूतर 'हूँ-हूँ' करता रहा, क्योंकि वह तो सबकुछ सुन रहा था। थोड़ीदेर में जब शंकरजी ध्यानसे उठे, तब उन्होंने देखा कि पार्वतीजी तो सो रही हैं। उन्होंने उन्हें जगाया कि यह क्या हुआ? शंकरजीने कहा कि 'तुम तो सो रही थी, फिर 'हूँ-हूँ' कौन कर रहा था? अवश्य ही यहाँ कोई है।' तब कबूतर बोल पड़ा– 'यह सब मैंने सुना है।' वह तुरन्त शापसे मुक्त हो गया और व्यक्तिकी आकृतिमें आ गया। शंकरजी ने कहा कि 'तुमने ज्ञानकी चोरी की है।' उसने कहा– 'मैंने चोरी नहीं की है। मैंने तो आपसे विधिवत् अप्रमत्तहोकर उपदेश सुना है और मैं आपका भक्त हूँ।' इत्यादि। इसप्रकार यह कथा है। जैसे पार्वतीजीकी ब्रह्माकार वृत्ति बननेका समय आया, वह लय हो गयीं। यही उनकी अयोग्यता हुई। लक्ष्मीजीको भी ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो धनके अभिमानी लोग हैं, उन्हें बोध नहीं हो सकता। सरस्वतीजीको भी बोध नहीं है अर्थात् जो लागे अपनी समझ और जानकारीका अभिमान करते हैं, उन्हें भी बोध नहीं हो सकता। पार्वतीजी जिन्हें अपनी तरह-तरहकी शक्तियों और बलका अभिमान है, उनको भी ब्रह्मबोध नहीं हो सका। नारदजीको इसलिये ज्ञान नहीं हुआ;

क्योंकि वह अनेक वृत्तियोंमें उलझे रहते हैं। चतुरता, चालाकी युक्तियोंका सहारा लेते हैं। अर्थात् सूक्ष्मबुद्धिसे भी काम नहीं होगा। शुद्धबुद्धिसे ही ब्रह्मज्ञान होगा। ऐसा इस प्रसंगके द्वारा संकेत दिया गया है।

शुद्धबुद्धिके लिए ब्रह्मभावना और सूक्ष्मबुद्धिके लिए निदिध्यासन करना चाहिए। मननके बाद निदिध्यासन होता है और श्रवणके बाद भावना या उपासना होती है। आग्रह (अहंकार) के कारण ही बोध नहीं होता। इस ध्यान-प्रक्रियामें उपासना, भावना और बोध अनुगत है। यह स्वयंका ध्यान है।

आत्मा अर्थात् मैं की आनन्दरूपसे उपासना करनी चाहिए। प्रारम्भमें यह अनुभव नहीं होता कि मैं ही आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसा सुना तो है कि मैं सच्चिदानन्द हूँ। सुषुप्तिवाले सुखको, शान्तिको ध्यानमें लाओ। यह एक प्रकारसे आत्माकी भावना, उपासना हो गई। प्रेम केवल आनन्दसे ही होता है अर्थात् अपनेसे ही होता है। स्वयंसे प्रीति होना सहज है।

प्रीतिका सही लक्षण चिन्तन है। चिन्तनका अर्थ सोचना नहीं होता। केवल उधर ध्यान देनेका नाम चिन्तन है। जिससे आपकी प्रीति होती है, वह हर समय आपके दिमागमें छाया (बना) रहता है। तदीक्षण करनेसे प्रीति हो जायगी। प्रीतिमें वही-वही दिखता रहता है। लौकिक प्रेम काम, आसक्ति और मोह होता है। प्रीतिमें प्रियतमकी याद बनी रहती है; परन्तु सुषुप्तिमें नहीं। यदि प्रियतम मैं ही हूँ, तब कोई भी स्थिति, देश, काल उसे काट नहीं सकता; क्योंकि आत्मा तो सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें है। प्रीति अनन्त हो जायगी। वह अमृतस्वरूपा है। आत्म-प्रीति अमर, मधुर, मधुरतम होती है।

आकाश ही आनन्दस्वरूप है। यही सगुण निराकार है। यह जो सुषुप्तिमें शेष रहता है, उसी आनन्दाकाशका ध्यान करो। किसी भी कीमतपर, श्रद्धासे यह करना प्रारम्भ करो। बार-बार आप दिनभर उधर ध्यान दें। जैसे भी समय निकालकर, मजबूरीसे, रोते हुए, हँसते हुए, जिस किसी प्रकारसे भी उसमें लगनेका प्रयास करो और फिर धीरे-धीरे आपको दुःखोंका पार मिल जायगा। यह आपका, स्वयंका, परमात्माका, आनन्दका, आकाशका ध्यान है। पहले ध्यान करना पड़ेगा, बादमें प्रीति स्वयं ही हो जायगी।

विवेकका अर्थ है– दो चीजोंका विश्लेषण करना। जबकि उपासना और ध्यान हमेशा एकत्व करता है। बुद्धि हमेशा तोड़ती है। प्रेममें संश्लेषण है,

विश्लेषण नहीं है। बुद्धिमें विश्लेषण है। अनुशासनमें कोई तोड़-जोड़ नहीं होता। बुद्धि पहले विकल्प करेगी, फिर उसका समाधान करेगी। (द्वैत) व्यवहारमें एक विकल्पके शान्त होते ही दूसरा विकल्प आ जायगा और आप उन्हींमें लगे रहेंगे। तात्पर्य यह है कि यदि आप बुद्धिका प्रयोग न करके आदेशसे, उपदेशसे ध्यान करेंगे, तो आपको अतिशीघ्र सफलता मिलेगी और प्रीतिका अनुभव हो जायगा। आप ईश्वरका ही ध्यान कर रहे हैं और ईश्वरसे ही प्रीति कर रहे हैं अथवा आप अपना ही ध्यान और अपनेसे ही प्रीति कर रहे हैं। इसके सिवाय यदि आप कोई और ध्यान कर रहे हैं तो आप भटके हुए हैं। इसके सिवाय जो भी कुछ किया जायगा, वह मान्यता होगी। यह ध्यान मान्यताओंके आधारपर नहीं, अनुभवके आधारपर है। अनुभव भी ऐसा, जो सबका, स्वयंका, प्रतिदिनका है और जिसे कोई मना भी नहीं कर सकता। चाहे कोई नास्तिक हो या आस्तिक। यह सबका स्वरूप है। ध्यानमें हमेशा स्थिति चाहिए, गति नहीं।

आपने सुना होगा कि एकाग्रताको ही ध्यान कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। सजगताको ध्यान कहते हैं– ऐसा भी नहीं है। यहाँपर एकाग्रतामें ही सजगता है और सजगतामें ही एकाग्रता है। यहाँपर आप न तो किसी आकार, किसी क्रिया और न ही किसी बोधका ध्यान कर रहे हैं। केवल निर्विशेष सुखकी ओर ही आपकी नजर है। सुखसे सबकी सहज प्रीति हो ही जाती है। जहाँ सुखका अनुभव होगा, वहाँ प्रीति हो ही जायगी। यही प्रेम अमृतस्वरूप है। सुखकी ओर जानेवाला वृत्ति-प्रवाह ही ध्यान है। दृश्य, अनात्मा आदि परिवर्तनशील होते हैं। यदि आप प्रयासकरके दृश्य-ध्यान लगाना चाहें, तो वह नहीं लगेगा। ध्येय हट जायगा और जो ध्यान करनेवाला है, वह भी चंचल है। स्थिरता नहीं आ पायगी।

सुषुप्ति बृहद् आकाश है, अनन्त है। छान्दोग्योपनिषद्में मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना बताई गई है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो आपको सम्पूर्ण सन्तोष प्रदान करेगी; क्योंकि इसमें अन्यता नहीं है और सारी विविधताएँ समाप्त हो गईं। इसीलिए यह ध्यान सबसे श्रेष्ठ है।

ध्यानके लिए आवश्यक तत्त्व- जिज्ञासा

जाग्रतमें जो हमारा रूप है, उसमें हम अपनी आकृतिको 'मैं' मानते हैं और दुनियामें सारा व्यवहार भी इसीको 'मैं' मानकर करते रहते हैं। आपकी एक अवस्था स्वप्नावस्था है, उसमें आपका यह शरीर तो निद्रामें अचेत पड़ा रहता है; परन्तु बिल्कुल वैसा ही शरीर आप स्वप्नावस्थामें कल्पित कर लेते हैं। आप स्वप्नमें दूसरा 'मैं' भी बना लेते हैं और उसीके अनुसार व्यवहार भी करने लगते हैं। सारा व्यवहार, सुख-दुःख और विचारधाराएँ आदि सब स्वप्नावस्थामें कल्पित कर लेते हैं; परन्तु इस शरीरसे नहीं। जिस प्रकार जाग्रतमें सारा व्यवहार आपको सत्य लगता है, उसी प्रकार उस समय भी आपको सब सत्य लगता है। क्या आपने कभी इसपर विचार किया कि जाग्रतमें दिखने वाला शरीर असली मैं है या स्वप्न वाला असली है?जाग्रतमें तो स्वप्न वाला नकली-सा लगता है और स्वप्नमें जाग्रत वाला नकली-सा लगता है। इन दोनोंमें सत्य क्या है? इसी प्रश्नने ही जनकजीको महापुरुष बना दिया।

दूसरा उदाहरण समझिए– कुछ समय पहले श्रीरमण महर्षि हुए हैं। जब वह 16-17 वर्षके ही थे, तब एक दिन विद्यालयसे आकर, भोजन करके वे सो गये। तभी उन्हें एक स्वप्न आया कि अधिक खानेके कारण मेरी मृत्यु हो गई है और माता-पिता तथा सभी रिश्तेदार विलाप कर रहे हैं और श्मशानके लिए मुझे ले जा रहे हैं। वहाँ उनकी आँख खुल गई। उस बालकके मनमें यह जिज्ञासा जगी कि 'जब मैं मर गया था, तो यह सब कौन देख रहा था?' एक स्वप्नसे ही वे कैसे जिज्ञासु बन गए? मैं जानने वाला हूँ या फिर मरने वाला हूँ? लेकिन यह निश्चित हो गया कि मैं मरने वाला तो हूँ नहीं। जो जान रहा था, वह मैं हूँ; परन्तु मैं क्या हूँ– इस खोजमें वह बालक लग गया। उसने स्कूल जाना छोड़ दिया। वह लगातार उसी बातको सोचता रहा। सन्तोंसे कभी भी उसका सम्पर्क हुआ नहीं था। बस, वह स्वयं ही ध्यान, अनुसन्धान करता रहा। कुछ दिन पश्चात् वह तिरुवण्णामलै (तमिलनाडु) चला गया। वहाँ शिव मन्दिरके पास जाकर बैठ गया। वहाँ भी वह उसी बातपर ध्यान देता रहा कि 'स्वप्नमें मैं मर गया था, उस बातको कौन जान रहा था? तब क्या मैं जानने वाला हूँ या शरीर हूँ? या फिर स्वप्नवाला हूँ? मैं क्या हूँ?' वह यही चिन्तन करता रहा। यही असली ध्यान है। धीरे-धीरे उनका खाना-पीना, स्नान,

मल-मूत्र आदि सब स्वयं ही छूट गया। यह स्थिति जिज्ञासाके कारण हुई।

प्रश्न कर सकते हैं कि ध्यान कौन करेगा? भक्ति कौन करेगा? सत्संग कौन सुनेगा? भोजन कौन खाएगा? विचार कौन करेगा? स्वयंको जगानेके लिए आप इस प्रकारके प्रश्नोंको अपनेसे पूछिए। इससे आपकी आत्मजिज्ञासा बढ़ेगी। उस बालकको कुटियामें कीड़े काटते रहे, खून आदि निकलता रहा, परन्तु उन्होंने उसकी परवाह नहीं की और वह समाधिस्थ हो गये। रमणका जो प्रश्न था, उसका कोई जबाब नही हैं। केवल अनुभव ही है। बस, वह अपने अनुभवमें ही समाधिस्थ हो गये। जैसे मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ। क्या यह जवाब है? नहीं। यह तो जवाबको ढ़कनेके उपाय हैं। चिन्तनमें जो शान्त अवस्था है, वही आपको इसका अनुभव करायेगी कि मैं सत् हूँ, मैं अस्तित्व हूँ। यही ब्रह्मभावना करनेका सही उपाय है।

इसीप्रकार जनकजी दिनभर यही चिन्तन करते कि 'वह स्वप्न सत्य था या फिर यह जाग्रत सत्य है?' यह जिज्ञासा नहीं है। इसमेंसे जिज्ञासा जागेगी। ''यह'' अर्थात् इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष रूप जगत्-व्यवहार और ''वह'' अर्थात् जो परोक्ष है, जो इस समय प्रतीत नहीं हो रहा है। प्रश्न था कि परोक्ष सत्य है या प्रत्यक्ष सत्य है या फिर अपरोक्ष सत्य है? उनके इस प्रश्नका समाधान कोई नहीं कर सका। कुछ समय पश्चात् अष्टावक्रजी आये। उन्होंने जनकसे कहा– 'जाग्रतमें स्वप्न झूठा प्रतीत होता है और स्वप्नमें जाग्रत झूठा प्रतीत होता है अर्थात् दोनों असत्य है।' जनकजी को जिज्ञासा जगी कि जब दोनों अवस्थाएँ असत्य हैं तो सत्य क्या है? अष्टावक्र ऋषि ने कहा कि 'अपना राज्य छोड़ दो।' उनकी एक जिज्ञासाने उनसे सब कुछ छुड़वा दिया। अष्टावक्रने कहा कि 'अपना मन मुझे दे दो, नहीं तो तुम अपने साम्राज्यादिके बारेमें सोचते रहोगे।' जनकने कहा– 'अपना मन समर्पित करता हूँ।' मन देनेका क्या अर्थ है? शान्त रहना माने अपने मनका प्रयोग न करना। उन्होंने देखा कि जनकजी महाशान्त हैं। उन्होंने जनकसे कहा कि 'अब मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ।' जनकने कहा– 'महाराज! मुझे मेरे प्रश्नका उत्तर मिल गया है। जब मैंने आपको अपनी बाहरी स्थिति अर्थात् जाग्रत अवस्था दे दी और मन अर्थात् स्वप्नावस्था भी दे दी; तब क्या बचा? केवल सुषुप्ति अवस्था ही बची, जो स्वयं जाग्रत अवस्थामें आ गयी। जनकजीका ध्यान चला गया कि सुषुप्तिमें जो शेष रह गया, वही

सत्य है, जो कभी मिट नहीं सकता, जो अविनाशी है। केवल जाग्रतिसे ही अविद्याका भेदन हो सकता है और हम स्वमें स्थित हो सकते हैं।

यदि देखा जाय तो जाग्रतवाला मैं स्वप्नमें नहीं रहता और स्वप्नवाला मैं जाग्रतमें नहीं रहता और जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं वाला मैं सुषुप्तिमें नहीं रहता। जहाँ हम सत्यरूपसे मैं होते हैं, वहाँपर हम बोल नहीं पाते अर्थात् सुषुप्तिमें कोई व्यवहार नहीं होता, केवल अनुभव ही होता है और यह भी कह सकते हैं कि वहाँ द्वैत नहीं होता और न ही उसकी प्रतीति होती है, जबकि व्यवहार द्वैतमें होता है। द्वैतमें ही यह, वह, मैं इसप्रकारकी बातोंसे ही व्यवहार होता है। सुषुप्तिमें आपके दो रूप हैं– ईश्वररूप और ब्रह्मरूप। ईश्वर और ब्रह्म दो नहीं होते।

जो सबमें है, वही परमात्मा है। सबमें अर्थात् आपमें। तब आप यह विचार करें कि मुझमें जो परमात्मा है, वह किस रूपसे है? जाग्रतरूपसे है या फिर स्वप्नरूपसे? जो कभी मिटती नहीं, कभी छिपती नहीं, कभी ओझल नहीं होती, अपनी उस अवस्थाको पहचानिये। 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्येत्'– यह ध्यानका वाक्य है। अपनेमें, अपने ही द्वारा, अपने आपका अनुभव करना है। इस मन्त्रमें 'पश्येत्' पहले ध्यानके अर्थमें और बादमें ज्ञानके अर्थमें है। ध्यान तभी लगेगा, जब आपका ध्यान ''मैं'' पर होगा या फिर ''अनन्तता'' पर होगा। विचार कीजिये– यह आकाश कहाँ तक है? यह अनन्त है, इसकी तो कोई सीमा नहीं है। जो सुख आपको सुषुप्तिमें आता है, उस सुखको जाग्रतमें याद करना है और बादमें यह प्रत्यय लगायें कि वह सुख अनन्त है। कुछ समय बाद आपको स्वयं ही यह अनुभव हो जायगा कि वह सुख मैं ही हूँ। परिच्छिन्नताओंके अभावसे उपलक्षित। क्या गहरी नींदमें आपको कभी किसी सीमाका अनुभव हुआ है? अर्थात् आप परिच्छिन्न नहीं हैं। आप अनन्त हैं। आप उस अनन्त सुखका ध्यान कीजिए। जब आप गहरी नींदमें होते हैं और फिर आप जागनेपर यह बताते हैं कि वहाँ कुछ नहीं था। यह जो कुछ नहीं था, इसको जाननेवाला वहाँ साक्षी मौजूद है, जो निरन्तर यह जानता रहता है कि वहाँ कुछ नहीं था। वह सत्य मैं हूँ अर्थात् आत्मा। यह विचार कीजिए कि गहरी नींदमें जो शान्ति है, उस सुखमें और आपमें क्या अन्तर है? इसमें आपको किसीके सहारेकी कोई जरूरत नहीं है। सुषुप्ति सबकी एक समान होती है।

वहाँ मैं और अनन्ततामें कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।

सुषुप्तिमें आत्म-सुख है अर्थात् वह सुख मैं ही हूँ। इसप्रकारसे ध्यान प्रारम्भ करो। जब आप अविनाशी वस्तुकी ओर ध्यान करेंगे, तब ध्यान भी अविनाशी होने लगेगा। द्रष्टाकी दृष्टिका विलोप नहीं हो सकता। द्रष्टा अविनाशी है तो उसकी दृष्टि भी अविनाशी ही होगी। यह दृष्टि ही ध्यान है। 'मैं सुख हूँ'– इसप्रकारसे ध्यान करो। अनन्तता ही आपका स्वरूप है। सारे विचारों, सारे आकारों, सारे जगत्का मूल मैं ही है। मैं के बिना एक स्फुरणा भी नहीं उठ सकती। पराक्की ओर जानेपर अन्तःकरण अशुद्ध होने लगता है। व्यवहारमें, दृश्यमें आते ही मन अशुद्ध और प्रत्यक्की ओर लौटनेपर शुद्ध हो जाता है। यदि आप शुद्धका चिन्तन करेंगे तो आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा।

विषयोंमें तात्कालिक सुखाभास मिलता है, परन्तु ध्यानमें तो सुख-ही-सुख है। सुखमें कोई सीमा, कोई आकार, कोई रंग, कोई रूप नहीं होता। सुख केवल निराकार ही होता है। आप सुखको अन्य मानकर भोगनेके लिए भागते हैं।

यदि तुम किसीको यह कहो कि 'तुम मेरे हो' तो इसमें कुछ प्रेम लगता है। 'तुम अपने हो'– इसमें पहले वालेसे अधिक प्रेम लगता है और 'तुम जो हो, वही मैं ही हूँ'– यह प्रेमकी पराकाष्ठा हो गयी। इसीप्रकार जब सुखको, शान्तिको मैं रूप अनुभव करोगे, तभी वह अमृतस्वरूप हो जायगा। इसलिए आप इस मैंको सुखरूपसे, सुखको अनन्तरूपसे ध्यान करें। अध्यात्म रामायणमें श्रीरामजीने भी लक्ष्मणको इसी तत्त्वका ज्ञान कराया है। यदि आप सद्गुण प्रकट करना चाहते हैं, अन्तःकरणकी शुद्धि चाहते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, जीवनमें आनन्दको विलसित देखना चाहते हैं, तो इस ध्यानको लगातार करते रहना।

आज जो संकल्प आप करेंगे, वही कलकी किस्मत होगा और उसीके अनुरूप आपको प्रतीति होने लगेगी। 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्येत्'– ध्यानकी इस प्रक्रियामें न तो शरीरकी आवश्यकता है और न मनकी, न बुद्धिकी। मन और बुद्धि आदि कुछ नहीं है; केवल एक आत्मा ही सब-कुछ है। आत्मा ही सर्वरूपोंको धारणकरके खेलता रहता है, जैसे टेलीविजनमें प्रकाश विभिन्न रूपोंमें खेलता हुआ नजर आता है। उसीप्रकार यह आत्मा ही

कभी गुस्सा करता है, कभी प्रीति करता है, कभी दुष्ट बनता है तो कभी शिष्ट बनता है। तब भी असंग-का-असंग ही रहता है। इतने आकारोंमें परिच्छिन्न-सा प्रतीत होनेपर भी पूर्ण-का-पूर्ण रहता है। इसप्रकार विचारकरके ध्यान करो। सुषुप्तिमें क्या हमें शरीरकी आवश्यकता होती है, बल्कि शरीरको छोड़नेकी आवश्यकता होती है और वहाँपर मनको भी छोड़ना पड़ता है। आप किसी विषयका नहीं, बल्कि मनका जो अधिष्ठान है, उसका ध्यान कर रहे हैं। जिसे मनकी चंचलता मालूम पड़ रही है, जिसे यह पता चल रहा है कि मुझे समझमें आ रहा है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। यहाँपर आपको असली अहम् का, सत्य मैंका ध्यान बताया जा रहा है। अ + हम् का अर्थ हुआ– 'अविनाशी' जो कभी मरता नहीं, जो कभी मिटता नहीं और जो कभी ओझल नहीं होता। आपका ध्यान आपके स्वरूपपर दिलवाया जा रहा है। अनुसन्धान कीजिए कि सुषुप्तिमें जो सुख था, वह मैं था, वह अनन्त था, वह मेरा ही स्वरूप था।

गीतामें कहा है– 'अनन्यरूपसे, अनन्तरूपसे चिन्तन करने वालेका योगक्षेम मैं स्वयं करता हूँ।' अपनेसे जो पृथक् चिन्तन करता है, उसका नहीं। सुषुप्तिशेष मैं कैसे निरन्तर तुम्हारे सारे दुःखोंको पी जाता है। इस ध्यानमें किसी भी चीजकी अपेक्षा नहीं है। आपको भूख लग रही है और आप इस ध्यानको करने बैठ जाए तो आपकी भूख शान्त हो जायगी। यदि आपको कहीं दर्द हो रहा है तो आप सुखका ध्यान करने बैठ जाए, तो दर्द तुरन्त ठीक हो जायगा।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

'ॐ ब्रह्म सर्वम्' – एक विलक्षण ध्यान

'ॐ ब्रह्म सर्वम्' एक मन्त्र है। ॐ अर्थात् सुषुप्तिशेष मैं माने आत्मा। सुषुप्तिमें जो भी स्वयंप्रकाश ज्योति या चेतन अनुभवमें आता है, आत्मरूपसे। जो सुषुप्तिमें शेष रहता है, वही मैं है, वही ब्रह्म है और वही सर्व है। जैसे महावाक्य होता है– 'अहं ब्रह्मास्मि'। ऐसे ही यह है। 'ॐ ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सर्व है।' जिसको भी सत्यका बोध हुआ है, उसे अपने स्वरूपके द्वारा ही हुआ है और उसमें वे सदा-सदाके लिए प्रतिष्ठित हो गये। जैसे ही आप ॐ कहें, तुरन्त ही आपका ध्यान सुषुप्तिमें जो शेष रहता है, उसपर चले जाना चाहिए। ऐसा करते ही यह स्वयं ही लगने लगता है कि यह बृहद् है, अनन्त है। यह तदीक्षण भी हुआ। इसप्रकार इसमें सर्वात्मभाव आ गया और बोध भी हो गया। व्यक्तिने स्वयंको परम मंगलमय स्वीकार कर लिया और सर्वत्र मंगल-ही-मंगल हो गया। उसको यह अनुभव हो गया कि यह मैं जो ब्रह्म है, वही मैं ही इन सब रूपोंमें अपनेको देख रहा हूँ। मन्त्रोंमें कभी भी क्रियापद नहीं जोड़ा जाता; क्योंकि वह क्रिया नहीं है, अनुभव है। इसलिए यह मन्त्र कोई क्रिया नहीं, बल्कि अनुभव है। 'ॐ ब्रह्म सर्वम्' में सभी मन्त्र आ गए और शायद कोई ऐसा मन्त्र नहीं है, जो इससे बढ़कर हो।

ध्वनिकी गति एक सेकेण्डमें 3 लाख किलोमीटर है। मनकी गति उससे बहुत अधिक है। हम सबको यह भ्रम हो रहा है कि यह जगत् है। जैसे गतिके कारण पृथ्वी घूमती हुई दिखाई नहीं पड़ती। परन्तु यह अपनी जगह भी बहुत तेजीसे घूम रही है और घूमते हुए ही सूर्यके चारों तरफ भी चक्कर लगा रही है। फिर भी ठहरी हुई दिखती है। ध्यानका रहस्य यह है कि जैसे आप एक अंगुली देखते हैं तो मनका यह कार्य है कि वह अंगुलीको स्वयं ही देखता है और स्वयं ही अंगुली बनकर दीखता है। गति ज्यादा होनेके कारण आप उसको समझ नहीं पाते। ध्याता भी वही है और ध्येय भी वही है; परन्तु गतिके कारण आपकी समझमें यह बात नहीं आ पाती, इसीलिए ध्यान नहीं लग सकता। मन स्वयंको ही देखता है; क्योंकि अन्य कुछ है ही नहीं, इसलिए जगत् भी आप ही

हैं। मनकी गति तेज होनेके कारण जगत् आपको अपनेसे अन्य दीखता है। इसलिए यदि आप चलते-फिरते, उठते-बैठते मनन करते रहें, अर्थका चिन्तन करते रहें, तो आपकी वृत्ति अपने स्वरूपपर बनी रहेगी। यदि आप सुषुप्तिशेषकी ओर लौटते हैं, तो सुषुप्तिशेष ही अन्य विचारोंमें आता है। अर्थात् जो विचार आपको दिन-भरमें आते हैं, वह अन्य नहीं हैं, वही आत्मा ही आपको उस रूपमें दीखता है; परन्तु हम उन्हें अन्य मानकर हटाना चाहते हैं। इसलिए आपको तदीक्षणका निर्देश दिया गया, जिससे आप अपने विचारोंमें तदीक्षण करें।

गीतामें कहा है– 'अव्यक्तादीनि भूतानि०।' जो भी समस्त संसार, जीव आदि दिख रहे हैं, पूर्वमें इनका क्या रूप था? पहले ये अव्यक्त थे अर्थात् नहीं दिख रहे थे; परन्तु अब व्यक्त हैं, अर्थात् दिख रहे हैं। स्थूल-सूक्ष्मरूपसे व्यक्त। बादमें भी ये अव्यक्त ही होने वाले हैं। आप देखिए कि संसारकी सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण अव्यक्तताकी ओर ही जा रही हैं। 100 वर्ष पहले तुम अव्यक्त थे, आज आप अपने-आपको शरीररूपसे व्यक्त देख रहे हैं। 50 वर्षके बाद आप अव्यक्त हो जायँगे। आपका स्वरूप ऐसा निर्विशेष है। आप बस, व्यक्त अवस्थामें अपने अव्यक्तरूपको पहचान लें, तो जीते-जी ही आपकी मुक्ति हो गयी। अपना वर्तमान रूप जो हर समय बदलता हुआ दिखाई दे रहा है, उसको ही सत्य मानकर राग-द्वेषमें फंस जाते हैं।

'सब परिवर्तनशील है।' यदि इस बातपर आपका सही ध्यान चला जाय, तो आप राग-द्वेष कभी नहीं कर पायँगे। आपको तो यह भ्रम हो जाता है कि यह ऐसे ही है और ऐसा ही रहेगा।

अव्यक्तता ही आपका चरम और मूलस्थान है। यदि आप अपनी इस व्यक्त स्थितिमें अपनेको अव्यक्त अनुभव कर लें, तो यही ध्यान है। जैसे सुषुप्तिमें आप अपने-आपको अव्यक्त अनुभव करते हैं; बस उसीको दृढ़ करना है। जितने भी अध्यारोपित ध्यान हैं, वे आपको जीवनभर करने पड़ेंगे। परन्तु जो सत्यानुसारी ध्यान है, वह ज्यादा दिन नहीं करना पड़ता; क्योंकि सत्य तो मौजूद है। यदि आपने उधर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया, तो जब भी आपको उसका अनुभव होगा, वह कभी ओझल नहीं हो सकता। यदि आपको अपने स्वरूपका अनुभव हो जाय, तो आपका असंग व्यवहार होगा। आप कभी भी स्वयंको नहीं

भूल पायँगे। आपमें अविस्मृतिकी स्थिति आ जायगी।

गहरी नींदपर दृष्टि डालो और यह देखो कि वहाँपर क्या परिस्थिति है? सबसे पहले आप यह अनुभव करो कि मैं वहाँपर होता हूँ। यदि मैं वहाँपर नहीं होता, तो सुषुप्तिका पता किसको चलता? इसलिए आप पहले श्रुति तथा अपने अनुभवसे यह निश्चय करो कि स्वयंप्रकाश रूपसे मैं ही सुषुप्तिमें मौजूद हूँ। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्र है, न विद्युत् है। वहाँ जो प्रकाशक है, उसे भी हम ही प्रकाशित करते हैं– जैसे स्वप्नमें बिना सूर्य और चन्द्रमाके भी आप सारा व्यवहार प्रकाशित करते रहते हैं। वहाँके सूर्य और चन्द्रको भी आप ही प्रकाशित करते हैं। इससे पता लगा कि आप स्वयंप्रकाश हैं। अर्थात् जब कुछ नहीं रहता, तब आप रहते हैं। यह आपके अविनाशित्वकी स्थिति है। आप जानते हैं कि वहाँ कुछ नहीं था, यह आपके चेतनस्वरूपकी सूचना है। जानना और सबको प्रकाशित करना– यह चेतनका ही लक्षण है; क्योंकि जो प्रकाशित होता है, उसे जड़ कहते हैं और जो प्रकाशित करता है, उसे चेतन कहते हैं। इस ध्यानसे यह भेद भी समाप्त हो जायगा। जो प्रकाशित कर रहा है, वही प्रकाशित होता है– ऐसा आपको अनुभव होगा। सुषुप्तिशेष ही प्राज्ञ है। आनन्दमय होनेके कारण ही चेतनकी ओर उसकी अभिमुखता है। वहाँ जाकर सब एक हो जाता है अर्थात् वहाँ द्वैत नहीं रहता।

अहम्की एक स्थिति प्राज्ञ है और वास्तविक स्थिति ब्रह्म है। प्राज्ञ अर्थात् ईश्वर। जहाँ द्वैत नहीं रहता, जो प्रतीतिको प्रकाशित कर रहा है, वही प्राज्ञ है। जब ग्रहण करनेवाला और ग्रहण होनेवाला, वे दोनों अलग-अलग हैं, ऐसा संवेदन समाप्त हो जाता है, तब उसको निर्विशेष ब्रह्म मानते हैं। जब द्वैत ही नहीं रहा तो अन्त:प्रज्ञ और बहिष्प्रज्ञ, यह सब समाप्त हो गया। इसलिए ऐसी स्थितिमें हम अपनेको ब्रह्मरूपसे अनुभव करते हैं। जब तक प्रतीति आत्मरूप नहीं हो जाती, तबतक देहादिमें वापस लौटना और जाग्रत-स्वप्न आदि चलता रहेगा। जब आप सुषुप्तिमें होते हैं, तब आप यह अनुभव करते ही हैं कि हमें कुछ पता नहीं चला, मैं बहुत आनन्दसे सोया। इसप्रकार की जो अप्रतीति होती है, उसको जो प्रकाशित कर रहा है, वही चेतन प्राज्ञ है। जब अप्रतीति आत्मरूपमें और अद्वैतरूपमें अनुभवमें आ जायगी, तब यह भी समाप्त हो जायगा। तब हम इस चेतनको ब्रह्म कहेंगे। चेतन ही स्वयंको आनन्दरूपसे

अनुभव करता है। जाग्रत और स्वप्नमें वही चेतन प्रतीतिको प्रकाशित करता है और सुषुप्तिमें वही अप्रतीतिको प्रकाशित करता है, इसीलिए वह प्राज्ञ है अर्थात् ईश्वर है। ईश्वरके लिए यह कहा जाता है कि वह शक्तिशाली है, मायावी है, तभी वह सर्वेश्वर है। 'एष सर्वेश्वर' उसी प्राज्ञके लिए ही कहा गया है। सृष्टि और प्रलय करनेवाला यही प्राज्ञ है। यदि यह चेतन अनुभव न करे और केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाय, तो यही ब्रह्म हो जायगा। यदि यह आनन्द न होकर केवल आनन्दका अनुभव कर रहा है, तो यह ईश्वर है, क्योंकि यहाँ पर अप्रतीतिरूप जो माया है, जिसे अविद्या भी कहा जाता है, वह यहाँपर प्रकाशित हो रही है। शक्तियुक्त चेतनको ही ईश्वर कहते हैं। मायायुक्त ब्रह्मको ही हम ईश्वर कहते हैं। जब आप मायाको छोड़ देंगे, तब ही आपको अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव होगा। वही मैं शुद्ध स्वरूपवाला ही वैश्वानर और तैजस हूँ, वही सुषुप्तिकी उपाधिवाला है और वही निरुपाधिक है। इसी ब्रह्मको ही तुरीय भी कहा जाता है। अर्थात् आप ही ईश्वर हैं, आप ही प्राज्ञ हैं और आपका ही यह परिचय है। 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ:' वाला मन्त्र बताता है कि वही आपका स्वयंका ही स्वरूप है। जितनी भी संकल्प सिद्धियाँ होती हैं, वह इस प्राज्ञकी स्थितिमें ही होती हैं। कोई भी व्यक्ति जब कोई सिद्धि प्राप्त करता है, तब वह पहले इसी प्राज्ञकी स्थितिमें आता है। 'एष:' इसी प्राज्ञके लिए कहा गया है, यहाँ अन्यताका निषेध है। इस सिद्धान्तसे जब दूसरा कोई सिद्ध ही नहीं होता, तब हम अलगसे ईश्वर कैसे मान लेंगे? अन्य ईश्वरको माननेवाला भी मैं ही होऊँगा, उस ईश्वरको न माननेवाला भी मैं ही होऊँगा, उस ईश्वरका उदय स्थान और लय स्थान भी मैं ही हूँ और जिस रूपसे उसका वर्णन किया जाता है, वह भी मैं ही हूँ। उपनिषद् हमेशा यह कहता है कि द्वैत कुछ नहीं है। सब कुछ अद्वैत ही है। ऐसा मानकर चलोगे तो सरलता हो जायगी।

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' अर्थात् सब परमात्मा ही है। तब टुकड़े-टुकड़े करनेकी क्या आवश्यकता है? जैसे ध्यानमें आपको विचार आये तो द्वैत हो गया अर्थात् विकल्प हो गया और यदि विचार न आये तो अद्वैत हो गया अर्थात् निर्विकल्प हो गया। अपनेसे अलग जितने भी विचार आयँगे, उन्हें विकल्प कहा जायगा। विश्व, तैजस, प्राज्ञ तो अनुभवगम्य हैं। चिन्तन हमेशा द्वैत शैलीमें

ही किया जाता है। इसलिए सभी इस संसारमें दु:ख ही भोगते रहते हैं। अद्वैतकी शैलीसे चिन्तन किया जाय। बहुत तथ्यों या बहुत शब्दोंको लेकर ध्यान न किया जाय। ध्यानमें हमेशा निर्विकल्प होकर ही बैठना चाहिए। गहरी नींदको याद करें और यह अनुभव करें कि आप वहाँ स्वयं प्रकाशरूपसे मौजूद हैं अर्थात् वहाँ कोई दूसरा प्रकाश नहीं है अर्थात् आप वहाँ हैं। आप वहाँ सत् रूपसे हुए या नहीं। यहींसे आप स्वयंको पहचानो।

स्वयं को पहचाननेके लिए चार शब्द हैं– जानना, समझना, पहचानना और अनुभव करना। जैसे पहले आपको किसीके द्वारा अपने स्वरूपकी जानकारी हुई, फिर आपकी समझ बनी। समझके बाद पहचान आपको ही करनी है और पहचान होनेपर आपको अपने स्वरूपका अनुभव हो जायगा। अनुभव की सबसे अधिक आवश्यकता है। अपनी सुषुप्तिकी ओर ध्यान देकर आप केवल पहचान कर सकते हैं, फिर उस पहचानकी ओर आपको निरन्तर ध्यान देना पड़ेगा। जैसे शरीरभावका आपने वर्षों दृढ़तासे ध्यान किया है, अब इस जीवभावको हटानेके लिए 'मैं चेतन हूँ'– ऐसा ध्यान करना ही पड़ेगा। जब तक आप वही नहीं हो जायँगे, जबतक वैसी संवित् नहीं बनती; तबतक सन्तोष नहीं होगा। केवल संवित् ही बननी है। स्वीकृति तो वही-की-वही है; क्योंकि आप वही थे, वही हैं और वही रहेंगे; परन्तु आपकी समझ नहीं बन पाती कि आप वही हैं। यदि यह समझ हो जाय, तो इसीका नाम ज्ञान होता है। हमेशा पहचानके बाद अनुभव आता है और वह केवल निदिध्यासनसे ही हो सकता है।

सुषुप्तिमें आपका शुद्ध स्वरूप है और वह आनन्द-ही-आनन्द है। सुषुप्तिमें केवल मैं है और सुख है। अर्थात् मैं ही आनन्द हूँ। सुषुप्तिमें आपने कभी भी परिच्छिन्नता या देश-कालकी कल्पना का अनुभव नहीं किया होगा। इस कल्पनाका अनुभव न होना ही अपनी अपरिच्छिन्नता अर्थात् बृहत्ता है। आनन्द कभी भी विषय नहीं होता। मैं अपरिच्छिन्न अनन्त बृहत् हूँ। सुषुप्तिमें किसी प्रकारकी कोई विशेषता अनुभवमें नहीं आती। जैसे– मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ, मैं आनन्द हूँ, मैं सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्वेश्वर हूँ इत्यादि। अर्थात् मैं निर्गुण हूँ, मैं निर्विशेष हूँ। मैं अपनेसे अलग वहाँ किसीको अनुभव नहीं करता। मुझे अन्यकी प्रतीति नहीं होती। वहाँ जो अप्रतीतिकी प्रतीति होती है, वह भी अपनेसे

अपृथक् प्रतीत होती है। जब वहाँ किसी दूसरेका अस्तित्व अनुभवमें नहीं आता, तो मैं अद्वय हुआ। अर्थात् मेरे सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। ध्यान द्वारा आप स्वयं ही पहचानिए और स्वयं ही अनुभव कीजिए। अनुभवका अर्थ होता है– वही हो जाना। मुझे तो प्रकाशकी अनुभूति हुई, मैंने तो स्वयंको आकाशमें उड़ते हुए देखा– ये सब तो केवल प्रतीतियाँ हैं। यह अनुभव नहीं है। अनुभव तो बिना ध्यान और निदिध्यासनके सम्भव नहीं हो सकता। आप यह न सोचें कि पता तो चल ही गया है, ध्यान आदि करनेकी क्या आवश्यकता है? इसकी आवश्यकता इसलिए है; क्योंकि आपने ‘मैं शरीर हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं धनी, गरीब, सुखी, दुःखी, रागी, द्वेषी हूँ, मैं बहुत प्रसन्न रहता हूँ, मुझे ज्ञान हो गया है, मैं किसी महापुरुषका शिष्य हूँ इत्यादि– इस प्रकारका घोर निदिध्यासन कर रखा है। इसलिये इस सबको हटानेके लिए ही आपको अपने स्वरूपके अनुरूप ही ध्यान और भावना करनी पड़ेगी और इसपर थोड़ा-थोड़ा विचार भी करना पड़ेगा। यह सोचिए कि मैंने जो पुस्तकमें पढ़ा है, क्या मै वैसा हूँ? क्या मुझे ऐसा अनुभव होता है? जबतक आप स्वयं ध्यान नहीं दोगे, तबतक आप नहीं मानोगे। यदि आप यह सोचें कि अभी समझ तो लिया ही है, बादमें ऐसा करके देखेंगे। यह भी ठीक नहीं है। समझकर तुरन्त ही इसपर ध्यान दो।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

देहप्रेक्षा-ध्यान

सम्मोहन प्रक्रियाद्वारा मनको गुम करनेका नाम ध्यान नहीं है। ध्यान अपने प्रयाससे लगाया जाता है, तभी वह चेतनताकी ओर जाता है, नहीं तो वह जड़ होता है। ध्यान आनन्द, मैं व अनन्ततामें ही लग सकता है और वह ध्यान बिल्कुल ठीक दिशामें है। लेकिन आनन्दमें एक परोक्ष परिणाम देखा जाता है कि सुख मिलते ही साधक उसे भोगने लगता है। इसे शास्त्रोंमें रसास्वादन कहते हैं। लय, रसास्वाद, शून्यता, विक्षेप आदि ध्यानमें बाधा उत्पन्न करते हैं। इनसे बचना चाहिये। यही तप है। ध्यानमें आनेवाली बाह्य व आन्तरिक विचारोंको तदीक्षणका प्रयोगकरके समाप्त कर दो। तदीक्षण एक सर्वोत्तम युक्ति है। अनन्तता प्रधान ध्यान जीनेकी एक कला है। ज्ञानसे मुक्ति होती है; परन्तु ज्ञान ध्यानके बिना नहीं हो सकता। उसी ध्यानको उपनिषदोंमें उपासना व भावना कहा है। योगवाशिष्ठमें भी कहा है कि ब्रह्मकी भावना या धारणा करो। भावना व निदिध्यासन– मुख्य रूपसे दो ही साधन हैं।

देहप्रेक्षा-ध्यान – हमारे समक्ष अनन्तताका एक ही उदाहरण है– आकाश। जिसमें कुछ भी प्रतीत होता है, वह आकाश है। जो लक्षण ईश्वरके हैं, वे सब आकाशमें हैं। स्थूल रूपसे आकाश क्या है? चारों ओर खाली जगह दिख रही है, यह मुक्त है और पूर्ण है। आकाश शुद्ध है, निराकार है, असंग है, अनन्त है। अनन्तता अविषय वस्तु है, उसे विषय नहीं किया जा सकता है। आकाश शान्तरूप है, सुखरूप है। सबकुछ आकाशमें ही लय होता है। आकाश बाहर-भीतर, कण-कण, रोम-रोम मे व्याप्त है। आकाश आपकी हर वृत्तिको, शरीरके रोम-रोमको ओतप्रोत किये हुए है। सब कुछ इसीमें है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड आकाशमें ही हैं। सारे शब्द आकाशसे उदय हो रहे हैं और आकाशमें ही लय हो रहे हैं। नाम, रूप, क्रिया सब आकाशमें ही दिखते हैं और उसीमें लय होते हैं। यह आकाश ब्रह्म है। सुषुप्तिमें यही आकाश होता है। वहाँ यह मुक्त, विषयोंसे रिक्त, बृहत् अनुभवमें आता है। जाग्रतमें भी आकाशको आत्मरूप ही मानो; क्योंकि सुषुप्तिमें तुम जो थे, वही तो अभी भी हो। सर्वत्र,

सर्वदा और सर्वरूपमें जो वस्तु है– वह यही आकाश है। तुम्हें अभी सुषुप्तिशेष चैतन्यका ख्याल नहीं बन रहा है, इसलिये तुम कह सकते हो कि आकाश चेतन नहीं, जड़ है। आकाश अनुभवस्वरूप है, अनुभाव्य नहीं। आकाशकी कल्पना विषय होती है, आकाश नहीं। सुषुप्तिलोकको श्रुति ब्रह्मलोक कहती है। निर्गुण निराकारसे पहले आकाश अभिव्यक्त हुआ, जो सगुण निराकार है।

भागवतमें अनेक स्तुतियों द्वारा ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। पहले निर्गुण निराकारसे प्रारम्भ करते हैं, सगुण निराकारपर आकर सगुण साकारकी महिमा बताते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो निर्गुण निराकार है, वही सगुण निराकार है, वही सगुण साकार हम सब हैं। सगुण निराकार ही ईश्वर है। यह आकाश ही सगुण निराकार परमात्मा है। अगर तुम्हें ईश्वरकी प्यास होती, तो अभी तुम्हें सन्तोष हो जाता कि आज मुझे ईश्वर मिल गया। जो सर्वत्र, सर्वदा, सर्वरूपमें, मेरे रूपमें, अभी है और यहीं है। यह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। इसीके प्रति सब सहजरूपसे समर्पित हैं। इससे बाहर कुछ नहीं है।

आकाशकी पहचान हो जानेपर 'देहप्रेक्षा' ध्यानकी प्रक्रिया समझ लो। पहले आप ठीकसे सहज स्थितिमें बैठ जाओ और अपने शरीरको शिथिल कर लो। शिथिलताका अर्थ है– अहंकारको शिथिल करना। अहंकारके शिथिल होते ही शरीर स्वतः शिथिल हो जाता है। अहंकारसे तनाव होता है। अहंकारी व्यक्ति यदि शरणागतिका अभ्यास करे तो उसका तनाव चला जायगा। आँख पूरी खुली न हों तथा पूरी बन्द भी न हो। अपनी दृष्टि नाकके अग्रभागकी सीधमें नीचेकी ओर टिकाओ। नाक नहीं देखनी है। आँख खुली रखनेसे विचार आते हैं और बंद रखनेसे लय हो जाओगे। इसलिये सावधान रहो। अब अपनी बुद्धिसे यह विचार करो कि हमारे शरीरको चारों तरफसे कौन ओत-प्रोत किये हुये है? यही ईश्वर है, ब्रह्म है। यह तीनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिमें है और इसीमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति प्रतीत हो रहे हैं। आप इस आकाशपर ध्यान रखेंगे। बुद्धिसे निश्चय रखेंगे कि यह परमात्मा है, निरामय है, असंग है, अनन्त है। आधी खुली आँखसे देखते रहिये। इसीमें शरीर प्रतीत होगा। ऐसे देखते-देखते शरीर दिखना बन्द हो जायगा। तुम्हें लगेगा कि मैं तो हूँ; परन्तु शरीर नहीं दिखता। जिसकी ओर ध्यान दोगे, उसके गुण आपमें आने लगेंगे। स्वस्थता आने लगेगी। यह अनन्तताकी ओर ध्यान है। 10-15 मिनट

बाद आप अनुभव करो कि यह आकाश 'मैं' हूँ। पहले शरीर छायावत् दिखाई देगा, फिर दीखना बन्द हो जायगा। बहुत देरतक आप अपने अनन्तस्वरूपमें भावना करते रहोगे, तो देहाध्यासकी निवृत्तिमें सहायता मिलेगी। बिना अधिष्ठानके अध्यस्तसे मुक्त होना सम्भव नहीं है। यह अधिष्ठानकी ओर चिन्तन है। यह आकाश सर्वाधिष्ठान है, जो मैं हूँ। भावना करते समय आँख बन्द होने लगेगी, लय होने लगेगा, नींद आने लगेगी। इसलिए सावधान होकर बैठो। इससे जाग्रति सफल हो जायगी। देहस्थ मैं को स्वरूपसे विवेक करनेका यह एक उपाय है। देहस्थ मैं हटना शुरु होगा और अपनी वास्तविक जगह अपनेको अनुभव करेगा। आगे 'मैं ही आकाश अनन्त परिपूर्ण हूँ'– ऐसा प्रत्यय बनेगा।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, सर्वम् खल्विदं ब्रह्म एवम् अन्य श्रुतियों व दर्शनोंके आधारपर आकाशकी ब्रह्मरूपसे भावना करनी चाहिये। आकाश ब्रह्म ही है– ऐसी स्वीकृति देकर पहले देहप्रेक्षा, फिर ब्रह्मभावना करें। प्रतिदिन इस ध्यानको स्वीकृतिदेकर जीवनकी दिनचर्यामें निर्भ्रान्तरूपसे सम्मिलित कर लें। सब दृश्योंसे मुक्त, यह ब्रह्म-सन्ध्या है। यह अधिकतम निरपेक्ष है। सन्ध्या-वन्दन या नित्यकर्मके बारेमें यह निर्णीत है कि उसके करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। न करनेसे प्रत्यवायरूप हानि होगी। हमारा जीवन जिसपर टिका है, जिससे आया है, जिसमें जीता है, जिसमें लय होता है, वह तो जीवनका अनिवार्य आश्रय है। यदि आप उसकी तरफसे ध्यान हटायेंगे तो विमुखताका दुःख पायेंगे। हम अपने बिना कैसे रहेंगे। हम ही नहीं होंगे, तो बचेगा क्या! यह आत्म-चिन्तन है। इसके बिना जीवन कैसे कटेगा; क्योंकि आत्मदृष्टिके बिना तो आप एक चेष्टा भी नहीं कर सकते; एक स्फुरणा भी नहीं हो सकती। सबका जो आदि, मध्य, अन्त है, वह अद्वैत-चिन्तन ही है। चिन्तनसे ही सबकुछ होता है। अलग-अलग प्रकारके चिन्तनसे प्राप्ति भी अलग-अलग होती है। इसलिए जो मुख्य चिन्तन है, आदि चिन्तन है, अन्तिम चिन्तन है, उसीको आप मध्यमें भी लाइये। उसे इतना अनिवार्य कीजिये, जितना कि साँस लेना। ऐसा स्वीकारकरके चलिए। हो सकता है कोई प्राणायामकरके पाँच-छः मिनट साँस रोक ले। हो सकता है कि मेंढक बिना साँस लिये काफी दिन तक पड़ा रहे। हो सकता है कुछ लोग समाधिमें रहते हों और साँस न लेते हों। परन्तु क्या मैं के बिना कुछ हो सकता

है?

इसीप्रकारसे उसे अनिवार्य समझो। जीवनके प्रातःसे यह दृष्टि प्राप्त होनी चाहिये। बच्चा पहले दिनका हो, उसी दिन उसे यह संदेश सुना दो। जाग्रतका अन्तिम समय और सुषुप्तिका अन्तिम समय इसीसे सम्पुटित होना चाहिए। ऐसा अनिवार्य स्वीकार करोगे तो यह होने लगेगा। यदि उपेक्षापूर्वक करोगे तो छूट जायगा। इस आत्मचिन्तनको अपने जीवनका अविभाज्य अंग बना लीजिये। इसे इसतरहसे जोड़ो कि यह तुम्हारा वास्तविक जीवन है। उसके बाद खेल कर लेना, नाटक कर लेना, सब अभिनय ही है। निश्चित करो कि प्रतिदिन पहले पाँच मिनट संकल्प करेंगे। उसके बाद पन्द्रह मिनट देहप्रेक्षा करेंगे। देहकी असंगताका अनुभव होनेके बाद ब्रह्मभावना करेंगे। ऐसा प्रतिदिन दो बार करो। इसको करनेके बाद १० मिनट आत्मनिरीक्षणमें लगायें कि क्या प्रार्थनाकी प्रक्रिया मैंने ठीक प्रकारसे की? क्या जैसा भावनामें है वह मुझे स्वीकार हुआ? कलसे आजतक मेरे जीवनमें इस भावना, इस प्रार्थना अथवा देहप्रेक्षाका क्या प्रभाव हुआ? ऐसा आत्मनिरीक्षण कीजिये। इसमें एक ही सावधानी है कि यदि चैतन्यताकी तरफ अभिमुखता रहेगी तो लय नहीं होगा, रसास्वाद भी नहीं आयेगा। नहीं तो थोड़े दिनोंमें सुख आने लगता है और व्यक्ति उसका भोग करने लगता है। यह रसास्वादन ध्यानमें विघ्न है। हमें शान्त बैठना अच्छा लगता है, ऐसा नहीं। अपितु सच्चाई, वास्तविकताकी तरफ ध्यान देना है। जो परमानन्द है, उस तरफ ध्यान देना है। मैं अनन्त सुख हूँ– वही अनुभव करना है। प्रेम व आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होता; बल्कि हमारा ध्यान प्रतिक्षण आनन्दकी ओर बढ़ता रहता है। यदि शरीर भारी दिखायी पड़ता हो तो भोजनकी मात्रा घटा दो। ज्यादा पौष्टिक पदार्थोंकी ओर ध्यान मत दो। पाचन मुख्य है। 'अर्धरोग हरी निद्रा, सर्वरोग हरी क्षुधा', शरीरके रोगोंकी निवृत्तिका उपाय है। मानसिक समस्याओंके लिये आप तदीक्षणका प्रयोग करो। इस साधनको निर्विघ्न चलने दो। संकल्पसे शारीरिक, मानसिक रोगोंका, यहाँ तक कि अपनी अविद्याकी भी चिकित्सा आप कर सकते हैं।

देहप्रेक्षाकी प्रक्रिया

पुनः देखो– 'इस मुक्त पूर्ण स्थानसे शरीर ओत-प्रोत है, आवेष्टित है। इसे श्रुतिने ब्रह्म बताया है। इसे मैं भी ब्रह्म स्वीकार करता हूँ।' बुद्धिसे ध्यान दो,

आँखसे नहीं। निश्चय करो। शरीरको आकाशमें देखो और आकाशपर ध्यान दो। अनन्ततामें यह शरीर प्रतीत हो रहा है। अनन्ततापर दृष्टि बनाये रखो। यह आकाश आनन्द है। इसीपर दृष्टि बनाये रखो। स्फुरण भी शरीरकी तरह आकाशमें ही दिखायी पड़ता है। तुम शरीरपर नहीं, आकाशपर ध्यान दो। जो दिख रहा है, उसपर नहीं; बल्कि जिसमें दिख रहा है, उसपर ध्यान दो। आँखे बन्द न करो। आधी खुली रखो। आकाश अनन्त सुख है, उसीपर ध्यान दो। उसीमें शरीर प्रतीत होने दो। यह करना 'होने' में बदल जायगा और 'होना' 'है' में। दृष्टिमें अनन्तता रहे। आलम्बन तुम्हारे पास है। तुम्हीं सुषुप्तिशेष आकाश हो। तुम्हींमें यह शरीर प्रतीत हो रहा है और अदृश्य हो जायगा। शरीर जिसमें ओतप्रोत है, वह मैं आकाश हूँ। स्वीकार करो कि 'एवमेव' अर्थात् ऐसा ही है। मैं ही अनन्त सुख हूँ।

देहप्रेक्षाके पश्चात् इसप्रकार ब्रह्मभावना करो। ''मैं सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय परमात्मा हूँ। मैं सर्वज्ञ, सर्वदा, सर्वरूपोंमें उपस्थित हूँ। मैं ही सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कर्ता, सर्वकारण अकारण भगवान् हूँ। मैं आत्मानुरूप समझदारीका समादार करूँ। मेरा प्रकाशन अपने आश्रय मुझ आनन्दप्रकाशके प्रति अभिमुख रहे; जिससे मुझमें अपनी पूर्णताका, स्वयंकी अद्वयताका सम्यक् अनुभव अभिव्यक्त हो। मैं चैतन्य चिन्तामणि अद्वय हूँ। मैं सर्वाधिष्ठान सत् हूँ, महान् अस्तित्व। मैं सर्वावभासक चित् हूँ– जाग्रत पुरुष। मैं चित् ही आनन्द हूँ, रसतत्त्व। मैं आनन्दस्वरूप ही परिपूर्ण ब्रह्म हूँ– अनन्त वस्तु। मैं बृहत् सुषुप्तिशेष अशेष निर्विशेष हूँ। मैं निर्विशेष ही अद्वय हूँ, केवल मैं ही मैं हूँ। परिपूर्ण सुख।''

आप खुद जज बनकर अपने बारेमें निर्णय करें। रोज अपना परीक्षण करें। कहीं भी, किसी भी तरहकी शारीरिक, मानसिक या बाह्य बाधा आवे तो तुरन्त प्रार्थना करें। वास्तवमें वह बाधा नहीं होती है, बल्कि अहंकार ही विविध बाधाओंमें प्रतीत होता है। प्रार्थनामें शरणागतिका भाव होता है। जैसे ही आप प्रार्थना करेंगे, वैसे ही अहंकार शिथिल होगा और विघ्न चला जायगा। परिस्थिति बदल जायगी।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

आनन्द-ध्यान या निदिध्यासन

जो चीज जैसी है, यदि आप वैसे ही उसका अनुभव नहीं करेंगे, तो वह ज्ञानके क्षेत्रमें नहीं आयेगी। वह आपकी सिर्फ कल्पनाएँ या मान्यताएँ अथवा अध्यारोप होंगे, वह वास्तविकता नहीं होगी। जो सर्वत्र है, सर्वदा है और सर्वरूपोंमें है; वह अभी है, यहीं है और आपके रूपमें ही है। इसलिए यदि आप अभी और यहीं अपने स्वरूपमें इसे अनुभव कर लें, तो आपको पता लग जायगा कि मेरा स्वरूप ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें है। जो सुख आप हैं, वही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें हो जायगा।

आपको अपनेसे सहज और परम प्रेम है। इसमें आपको कुछ करना नहीं है। केवल आपको उधर ध्यान देना है। आप ही अमृत स्वरूप हैं। बस, उधर ध्यान देना ही परम प्रेम है। जब आप सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें स्वयंका अनुभव करोगे, तो आपका सर्वसे प्रेम हो जायगा और सहजतामें ही सर्वात्मभाव आ जायगा।

एक ब्राह्मण है, एक हिन्दू है, एक मुसलमान है, एक सिख है और एक ईसाई है। इन सबको मनुष्य होनेमें कितने सेकेण्ड लगेंगे? बस, उसका ध्यान नहीं है। समझ आनेमें कितनी देर लगी?केवल ध्यान चला गया कि हम मनुष्य हैं। एक मनुष्यको प्राणी होनेमें कितना समय लगेगा, कुछ नहीं। क्योंकि प्राणी तो वह है ही। बस, उसका उधर ध्यान नहीं है। जैसे आप स्वयंको प्राणी समझें, तो आप अन्यको भी प्राणी ही समझेंगे और सबमें आपका सर्वात्मभाव हो जायगा। ध्यान कुछ करना नहीं है। केवल वस्तुस्थिति जैसी है, उधर ध्यान चला जाय, उसे ही ध्यान कहते है। एक स्त्रीको मनुष्य होनेमें कितना समय लगेगा; क्योंकि वह तो मनुष्य है ही; बस उसका ध्यान गया और वह मनुष्य बन गई। इसीप्रकार एक प्राणीको जीव होनेमें कितना समय लगेगा और ऐसे ही एक जीवको ब्रह्म होनेमें कितना समय लगेगा? वह तो ब्रह्म ही है। बस, उसका ध्यान चला गया और वह ब्रह्म हो गया। आप स्वयंको कुछ-न-कुछ मान बैठे हैं। अन्यता स्वीकार कर लेना सबसे बड़ी बाधा है। स्वयंको और सुषुप्तिशेषको

ब्रह्म होनेमें कितना समय लगेगा? अब आप जाग्रदावस्थामें हो, तब आपको सुषुप्तिशेष होनेमें कितने सेकेण्ड लेगेंगे? आप तो प्रत्येक समय और प्रतिक्षण सुषुप्तिशेष ही तो हो। एक स्वप्न पुरुषको सुषुप्तिपुरुष होनेमें कितने सेकेण्ड लगेंगे? कुछ नहीं; क्योंकि वह वही है। आपका, आपपर ध्यान दिलवाया जा रहा है। यदि आप ऐसा समझकर अनुभव कर लेंगे, तो आपका कायाकल्प, जीवनकल्प हो जायगा। उस सुषुप्तिशेषको, जो अपने ब्रह्मलोकमें बैठा हुआ है, उस ब्रह्मको आप अवतार लेने दीजिए। जैसे अबतक अवतार हुए हैं, वह वैसे ही होगा। बस, आप उधर ध्यान दीजिए, यही आपकी उपासना, पूजा, आराधना और अर्चा है। जब ब्रह्म आपके जीवनमें अवतरित हो जायगा, तब आपके जीवनमें दुःख और भ्रम कहाँ रहेंगे और आपको कुछ भी सोचना नहीं पड़ेगा। यहाँ आपको अपने स्वरूपका परिचय बता दिया गया है और ब्रह्मको अवतरित करनेका तरीका, भावना, उपासना, निवेदन और प्रार्थना आदि भी बता दी गई हैं।

भावना क्या होती है? पहले भगवान् कारणमें अवतरित होते हैं, फिर प्रतिभासमें और तब व्यवहारमें आते हैं। स्वप्न नहीं, जाग्रत नहीं, सुषुप्ति नहीं, तुरीय वाली स्थितिकी भावना करनी है। भावना एक विलक्षण प्रक्रिया है। जितना आप प्रत्यक्‌की ओर लौटते चले जायँगे, उतने विचार आने बन्द होने लगेंगे। सुषुप्तिकी ओर लौटते ही विचार समाप्त होने शुरु हो जाते हैं। अधिष्ठान, प्रत्यक्, चेतन, ब्रह्मकी ओर रुझान होते ही आप स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। सुषुप्तिके उदाहरणका स्मरण रखिए।

रात्रिका समय भावनाके लिए सर्वोपरि है। उस समय सबसे अधिक शान्ति होती है और किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। पूरे निरापद एकान्तका वातावरण रात्रिमें होता है। उपनिषदमें आया है कि प्रवचनसे, श्रवणसे, प्रज्ञासे या मननसे वैसी बात नहीं आती, जैसी वरणसे आती है। वरणसे, स्वीकारसे यदि भावना करोगे, तो यह चेतनतत्त्व जाग्रतिमें अवतरित हो जायगा और जाग्रतके असुरोंको समाप्तकरके सुखका विस्तार कर देगा। कठोपनिषद्में आया है–

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमांगतिम्॥

श्रुति कहती है– जहाँपर ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ निर्विकल्प हो जाती हैं। निर्विकल्प होना अर्थात् न आँख देख रही है, न कान सुन रहे हैं, न जीभ बोल रही है, न त्वचा स्पर्श कर रही है, न नाक सूँघ रही है। क्या जब आप सोते हो, तब आपको कुछ सुनाई, दिखाई या महसूस होता है? नहीं। वहाँ यह सब नहीं होता और बुद्धि तथा सोच-विचार भी नहीं चलता। इसको परम्गति कहते हैं। आपको अपना स्वरूप प्राप्त है; परन्तु ध्यान न होनेके कारण आपको पता नहीं है। बस, इतनी-सी बात है। आप वही हैं, केवल आपको पता नहीं है। यही ध्यान ज्ञानमें परिवर्तित हो जासगा और 24 घण्टे आपकी स्थिति आनन्दमयी ही रहेगी।

निदिध्यासनकी सरल युक्तियाँ

अज्ञातकालसे विषयाभिमुखता ही बनी हुई है। दृश्यकी ओर ही चेतन देखता रहा, द्रष्टाकी ओर नहीं। 'दृश्यमें सुख है'– यह धारणा सबकी बनी हुई है। इससे चेतनका प्रकाशन-प्रवाह बहिर्मुख रहता है अर्थात् व्यक्ति इन्द्रियोंके विषयोंमें अथवा कल्पनाके विषयोंमें ही सुख ढूँढता रहता है। अब आत्माके प्रकाशनको वापिस 'मैं'की ओर लौटाना है। जो वृत्ति लगातार पूर्वकी ओर, पराक्की ओर, प्रत्यक्षकी ओर, यह-वहकी ओर बह रही है, उसे पश्चिमकी ओर, प्रत्यक्की ओर, अपनी ओर, मैं की ओर लौटाना है। इसमें तत्परता चाहिए। रुचिसे ही तत्परता आती है। रुचि नहीं है, तो उधर ध्यान नहीं जा सकता। यदि आपने इस निदिध्यासनकी जरा-सी भी उपेक्षा की, तो वृत्ति अपनी ओर नहीं लौट पायेगी; क्योंकि निदिध्यासनका संस्कार नहीं पड़ता। निदिध्यासनमें वृत्तिकी अभिमुखता चेतनकी ओर, प्रत्यक्की ओर होती है और चेतनमें कभी संस्कार नहीं पड़ता। संस्कार सदैव जड़में पड़ते हैं। जब निदिध्यासनका संस्कार नहीं पड़ता, तो आप यह नहीं कह सकते कि मैं बादमें अभ्यास कर लूँगा। अतः इसमें जरा-सा प्रमाद भी क्षमा नहीं किया जा सकता।

ध्यानसे पूर्व आप कुछ आदर्श व्यक्तियोंका स्मरण रखो। अपनी ओर लौटनेकी रमण महर्षिकी जो प्रक्रिया है, उसमें लगन है, तत्परता है, समर्पण है और पूर्ण शरणागति है। उन्होंने लक्ष्य-प्राप्तिके लिए सबकुछ छोड़ दिया। तीव्र जिज्ञासा-वृत्तिसे अनुभवपर्यन्त अपनी ओर ध्यान दिया और अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये। दूसरा दृष्टान्त शुकदेवजीका है। वे जन्मसे ही सिद्ध थे। तीसरा

दृष्टान्त महर्षि उद्दालकका है। उनकी निरहंता अद्वितीय है। वे अपनी निरहंतासे ही स्वरूपका अनुभवकरके उसमें निमग्न हो गये। विचार और ध्यानके द्वारा उन्होंने अपनी वृत्तिको प्रत्यगोन्मुख किया। सूफी सन्तोंमें रबियाका नाम भी आता है। रबियाके पास कोई परिस्थिति नहीं थी। वह खुदासे प्रार्थना करते-करते शरणागत हो जाती थी और उसीसे उसने खुदको पा लिया।

अपनी ओर ध्यान जानेमें जब भी आपको कोई विघ्न महसूस हो, लय अथवा विक्षेप आये, तो उसमें तुरन्त आत्मभाव कीजिए अथवा तदीक्षण अर्थात् भगवद्भाव कीजिए। यह सत्यानुसारी है। निदिध्यासनके सन्दर्भमें तदीक्षणके अनेक श्लोक हैं। जैसे– 'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।' अर्थात् जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ ब्रह्मकी भावना करो। यही तदीक्षण है। 'विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।' अर्थात् जितने विषय हैं, उन विषयोंमें अपनी भावना करो। 'चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।' बाह्य विषयोंको तथा अन्दर जो विचार या भाव उठते हैं, उन्हें तुम आकाशसे अर्थात् ब्रह्मसे ओतप्रोत अनुभव करो। लय और विक्षेपको विघ्न मत मानो, अपितु दिशा-निर्देशक मानो; क्योंकि वे सूचना देते हैं कि आपका भजन अर्थात् अनुसन्धान छूट गया है। आप तुरन्त सावधान हो जाओ अथवा उनमें तदीक्षणकरके उन्हें हटा दो और अपनी ओर लौटनेके प्रयासमें लग जाओ। जो जाना जा रहा है, उधर ध्यान मत दो। जो जान रहा है, उधर ध्यान दो। तब जो जाना जा रहा है और जो जान रहा है, वे दोनों एक हो जायँगे। निदिध्यासनमें संस्कार नहीं पड़ता; क्योंकि वहाँ संस्कार ग्रहण करनेवाला ही नहीं रहता। निदिध्यासन इतना प्रबल है कि वह पूर्वके सारे संस्कारोंको मिटा देता है और अलगसे अन्तःकरण-शुद्धिकी भी आवश्यकता नहीं होती। तुम जहाँ हो, जब हो, जैसे हो, वहींसे इसे शुरु कर सकते हो। तुम्हें अपनेको कोई उत्तर नहीं देना है, बल्कि उसकी खोज करनी है। तुम देखो कि कोई सबको निरन्तर जान रहा है। भगवान्को, गुरुको और शास्त्रादिको भी। अब तुम उसकी खोज करो कि 'कौन जान रहा है? यह प्रकाश कहाँसे आ रहा है?' गुरु भी तुम्हें उस प्रकाशको नहीं दिखा सकता; क्योंकि जब वह तुम्हें दिखायेगा तो वह भी जाना जायगा और जाननेवाला फिर अलग हो जायगा। अतः उसकी खोज तुम्हें स्वयं ही करनी है। तुम इस प्रतीक्षामें मत रहना कि कभी भगवान्की कृपा होगी और

तुम्हारी वृत्ति बिना प्रयासके अपनी ओर लौटेगी। ऐसा कुछ नहीं होगा। इसमें केवल आत्मकृपा मुख्य है, अन्यकी नहीं।

अब तुम यह निश्चय करो कि 'मैं आनन्दका, सत्यका अनुसन्धान करता हूँ। जो सबको निरन्तर जान रहा है, अब मैं उसकी ओर ध्यान दूँगा।' यह संकल्प है। तुम्हारे मनमें जो विचार उठ रहा है, वह जाना जा रहा है। उस विचारको कौन जान रहा है? उधर की और रुझान रखो। शरीरमें कोई भी संवेदन महसूस हो, तो तुरन्त उसके जाननेवालेकी तरफ ध्यान दो। उधर ध्यान देनेसे जाग्रति और सजगता अपने-आप आ जायगी। सारा योगदर्शन भी इसीमें आ गया और पूरा नारद भक्ति-सूत्र भी इसीपर केन्द्रित है। परमप्रेम किसके प्रति? अस्मिन्‌के प्रति। भक्ति अस्मिन्‌के प्रति परमप्रीति है। अपनी ओर निहारना, ध्यान देना निदिध्यासन है।

निदिध्यासन कोई अरोप अथवा अध्यारोप नहीं है। जब तुम अपनी ओर ध्यान दोगे, तब तुम अपने स्वरूपसे एकत्व प्राप्त कर लोगे। ध्यान देना अर्थात् उससे एक हो जाना। अपनी वृत्तिको अपनी ओर लौटाना अर्थात् अनन्तकी ओर लौटना। वस्तुतः सारी वृत्तियाँ वहींसे आ रही हैं, बस उधर ध्यान देना है।

मैं आपको जो ध्यान बता रहा हूँ, वह रसका ही चिन्तन है। रसमें आकार नहीं होता। जबतक रस अन्य है, परिच्छिन्न है, तबतक आपका भोक्तापन नहीं छूट सकता। रसका भोग करनेसे वह अस्त हो जाता है। तैत्तिरीय श्रुति आकाशको ही आनन्द, रस कहती है। आप सबके बिना रह सकते हैं; परन्तु रसके बिना नहीं रह सकते। अर्थात् आप ही रस हैं। भोक्ता, भोग्य और भोगसे रहित जो रस है, वही आनन्द है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। आनन्दसे पृथक्, ब्रह्मसे पृथक् रस नामकी कोई वस्तु नहीं है। रसकी पूर्णता उसकी अद्वयतामें है। जब आप रसको आत्मरूपसे, अनन्तरूपसे अनुभव कर लेंगे, तब वह कभी अस्त नहीं होगा। रस कभी घटता-बढ़ता नहीं है। जो रस घटता-बढ़ता है, वह अनित्य होता है।

आप रसका अनुसन्धान कीजिए अथवा उसकी अनन्तरूपसे भावना कीजिए। देहप्रेक्षामें आकाशकी ही भावना है। उसमें दृष्टि अनन्ततापर रहती है और देहाध्यास शिथिल हो जाता है। आकाश हमारा स्वरूप है। आपको जब कभी भी सुख महसूस हुआ होगा, विषयोंमें, संगीतमें अथवा कहीं भी, ध्यान

देकर देखो, वह सुख आकाशरूप सुख ही होगा। आकाशसे पृथक् नहीं होगा। आप चाहे संगीतके माध्यमसे अथवा प्रेमके आलम्बनसे सुखको जगाओ। एक बार उसे जगाकर आलम्बनको छोड़ दो और केवल रसकी ओर ध्यान दो तो वह निरपेक्ष सुख बढ़ता चला जायगा। यह शुद्धरूपसे रसका अनुध्यान है, जिससे आप कभी भटक नही पायँगे।

वस्तुतः ध्यान देनेकी वृत्ति ही तप है। चेतनका तप ज्ञानमय, आनन्दमय ही होता है, क्रियात्मक नहीं। जाग्रति ही तप है, ध्यान भी। जैसे-जैसे आप अनन्ततापर अथवा मैं पर ध्यान देंगे, विचारोंका प्रवाह क्षीण होना शुरु हो जायगा। आपका ध्यान सम्यक् होने लगेगा। दृष्टि आकाशपर रखनेसे वह अनन्त हो जायगी और सब छायावत् हो जायगा। तब कुछ छोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, सब छूटा हुआ ही लगेगा। जब आपकी दृष्टि बृहत्तापर रहेगी, तब आपके जीवनमें असंगताका विकास होगा, आपमें स्वतः ही सब ओर से उपरामता आ जायगी। ब्रह्मभावना रसकी भावना ही है। आनन्द, रस, आत्मा, भगवान्, ब्रह्म– ये सब एक ही वस्तुसत्यके नाम हैं।

अहंकार रसके सिवाय और कहीं गल नहीं सकता। जीवनमें नम्रता, निरहंता आ जाती है, तब सारी प्रकृति अनुकूल हो जाती है। प्रकृतिका अर्थ है– हमारा पूर्व संकल्प। प्रकृति हमारा ही योगक्षेमका संकल्प है। आप आत्मनिरीक्षण कीजिए कि क्या मैं वास्तवमें अपनेको आनन्द अनुभव कर रहा हूँ? भावनासे अनुभव होना चाहिए। अपनेसे प्रश्न करनेपर प्रमाद झड़ता है और जाग्रति बनी रहती है।

आपको जब भी आनन्द अथवा परमात्मा मिलेगा, वह अपने ही रूपमें मिलेगा। अन्य कोई तरीका नहीं है। जो सुख आपको चाहिए, वह आपके ही स्वरूपमें है, अन्यत्र नहीं। इसमें कोई मान्यता नहीं है। हम उस सुखका अनुभव कैसे करें? हमारी दृष्टि, हमारी नजर अन्यपर है। हमारी नजर अपनेपर कैसे जाय? हम अपनेको विषय नहीं कर सकते और किसीसे विषय हो भी नहीं सकते। तब क्या करें? एक ही युक्ति है, जिसे हम ध्यान कहते हैं। दूसरे लोग उसे ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः ज्ञान और ध्यानमें कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि जब भी किसी वस्तुका ज्ञान होता है, तो वह उधर ध्यान जानेसे ही होता है। ध्यान जाना ही ज्ञान है अर्थात् ध्यान और ज्ञान एक है।

यदि आप यह निश्चय कर लें कि 'मुझे आनन्द ही चाहिए, वह भी अपने रूपमें', तो कंचन, कामिनी, कीर्ति और कर्मसे आपका ध्यान स्वतः हट जायगा। प्राणीमात्रको सुख चाहिए, यह निर्विवाद है। यदि आप वास्तवमें ध्यान करना चाहते हैं, बोध प्राप्त करना चाहते हैं, परमात्माको अनुभव करना चाहते हैं अथवा रस जाग्रत करना चाहते हैं, तो उसके लिये एक अकाट्य युक्ति है कि आप अपनेपर ध्यान दीजिए।

जो आनन्दका स्वरूप है, वही सत्, चित्, अनन्तका स्वरूप है। उसीको हम अद्वय कहते हैं। यदि तुम्हारा यह निश्चय है कि 'सचमुच मुझे आनन्द ही चाहिए' तो जो आनन्द नहीं है, जहाँ आनन्द नहीं है, उधरसे तो ध्यान हट जाना चाहिए। आत्मा ही आनन्दस्वरूप है, सुखस्वरूप है। तब अनात्मासे ध्यान हटा लो। तुम्हें अनन्तताका अनुभव करना है तो अल्पसे, परिच्छिन्नतासे ध्यान हटा लो। तुम यश चाहते हो अर्थात् तुम व्यापक होना चाहते हो। तुम धन चाहते हो अर्थात् तुम स्वावलम्बी, स्वतन्त्र होना चाहते हो, शक्ति चाहते हो। वे सब हमारे स्वरूपके अनुरूप ही हैं, बस विवर्तित है। विपरीत दिशामें, दृश्यमें, पराक्में दिखाई पड़ रहे हैं। जो दृश्यको जान रहा है, वही सुख है, वही आनन्द है। भूमा ही सुख है।'

रस साक्षादपरोक्ष है। उसमें किसी आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। कीर्तनमें, भजनमें, संगीतमें जब भी तुम्हें अच्छा लगता है, तो तुम ऊपरके आवरणोंको छोड़कर उस अच्छे लगनेको देखो कि वह क्या है? वह रस है। जब तुम गहरी नींदमें सोते हो, तब तुम्हें जो आनन्द मिलता है, क्या वह अच्छा लगना उस आनन्दसे भिन्न है अथवा वही है? चाहे तुम्हें किसी भी निमित्तसे सुख मिल रहा हो, वह सुख सदैव मैं रूप ही होगा। आनन्द निराकार होता है। आनन्दको आजतक किसीने साकाररूपमें देखा ही नहीं है।

यदि हम दृश्यकी ओर इशारा करते, तो तुम जरूर उलझ जाते। जो जान रहा है, उधर लौटनेमें भटकावकी कोई सम्भावना ही नहीं है। जहाँ अनेकता है, वहाँ व्यक्ति भटक सकता है। श्रुति-ज्ञानका आदर करो अर्थात् अपना आदर करो। अपना तिरस्कार करनेसे ही लोग कर्म और भोगरूप सजा पा रहे हैं। रसाकार-वृत्तिसे तुम्हारा परिचय करा रहा हूँ। वह रसाकारवृत्ति, रस होकर खुद भी शान्त हो जायगी। केवल रस-ही-रस रहेगा। वह रस तुमसे

अलग नहीं है।

अनन्ताकाशकी भावनामें भाव भी है, अनुसन्धान भी है और अपना बोध भी है। यह समग्र ध्यान है। देहप्रेक्षासे देहमें जो तुम्हारा मैंका निश्चय है, वह ढ़ीला पड़ जायगा। अब वह अपने-आप अनन्तपर आ जायगा। यही आत्मविषयक ध्यान है। यदि तुम्हारा यह निश्चय हो जाय कि मुझे आनन्द ही चाहिए और वह आनन्द अभी है, यहीं है और इस आत्माके रूपमें है, तो बताओ तुम्हारी सारी वृत्तियाँ उधर मुड़ जायँगी या तुम्हें लगानी पड़ेंगी? लोग कहते हैं कि 'हमारा ध्यान नहीं लगता।' ध्यान इसलिए नहीं लगता; क्योंकि तुमने अन्यत्र सुखकी कल्पना कर रखी है। तुम स्वयं सुखस्वरूप हो। सारी श्रुतियाँ इसी सार्वभौम सत्यको लखा रही हैं। उसीको वे आनन्द, ब्रह्म, येन, अद्वय, रस कहती है। उस सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वदेशिक आनन्दकी प्राप्तिके लिए ही श्रुतियाँ इशारा कर रही हैं। कोई कहता है कि 'पुराने जो संस्कार पड़े हुए हैं, वे धीरे-धीरे ही तो क्षीण होंगे।' 'ध्यान धीरे-धीरे ही तो लगेगा।' उसने अपने-आप ही एक बाधा कल्पित कर ली। आपके सामने आपका प्रिय भोजन हो और तुम्हें कोई बता दे कि उसमें विष मिला हुआ है, तो उस भोजनको छोड़नेमें तुम्हें कितने सैकेण्ड लगेंगे? संस्कारोंको छोड़नेमें इसलिए देर लग रही है; क्योंकि तुम्हें अभीतक यह पता नहीं है कि तुम चाहते क्या हो? यदि तुम्हें आनन्दरूप लक्ष्यका पता चल जाय तो एक भी प्रश्न शेष नहीं बचेगा, न जगत्का, न जीवका, न ईश्वरका और न अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका। जीवनकी जो शाश्वत माँग है, उसे एकबार पहचान लो, तो तुम्हारा ध्यान स्वयं ही लगने लगेगा।

तेषामेवानुकम्पापर्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ गीता (१०/११) अर्थात् उसके हृदयमें स्थित हुआ मैं उसे जगाकर उसके अज्ञानको नष्ट कर देता हूँ, जिससे वह अपने रूपमें मुझ आनन्दको अनुभव कर लेता है।

यहाँ भी यही कहा गया है कि पहला प्रयास स्वयं करना पड़ेगा, तभी ईश्वर कृपा करेंगे, बुद्धियोग देंगे। आत्मकृपा ही मुख्य है। क्योंकि ईश्वर आत्मा ही होता है, शास्त्र और गुरुको भी हम ही स्वीकार करते हैं।

भगवान् कहते हैं कि 'तुम सर्वत्र मुझे ही अनुभव करो, क्योंकि मैं ही

सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपमें हूँ।' यह भाव अपने-आप बोधमें पर्यवसित हो **जायगा। तुम जिस परमात्मासे प्रेम करते हो, उन्हींके वचनोंको स्वीकार करो, उनकी बात मानो। जिससे प्रेम होगा, सारी वृत्तियाँ स्वयमेव उधरकी ओर मुड़ जायँगी। इसी प्रेमको उपनिषदोंमें जिज्ञासा शब्दसे कहा गया है। सत्यको अनुभव करनेकी तीव्र इच्छाको जिज्ञासा कहते हैं। ब्रह्मभावना अर्थात् आनन्दकी, रसकी भावना। रस सदैव एकरूप ही होता है।**

समाजमें एक सम्मोहन प्रचारित है कि ध्यान करना नहीं चाहिए, वह होना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि कर्म, भक्ति और ज्ञानमें प्रयास करना पड़ता है; परन्तु प्रेम अपने-आप हो जाता है। क्या आपने इस विषयपर कभी सोचा है कि प्रेम होता क्या है?आप स्वयं ध्यान देकर देख लेना कि लौकिक प्रेम, अन्यसे प्रेम हमेशा काममें ही परिवर्तित होता है। वह कामकी ही लीला है, प्रेम नहीं है।

ध्यानैव कार्यम् ध्यानैव कार्यम्। ध्यानमें मुख्यरूपसे जो आनन्दका अनुसन्धान है, वह यदि आप कर लेते हैं तो आपका ध्यान स्वतः लगने लगेगा। क्या वह प्रेम सुषुप्तिमें रहता है? जिसे सुषुप्ति बाधित कर देती है, वह प्रेम सत्य कैसे हो सकता है?

'त्रिरूपभंगपूर्वकम्।' (नारद भक्ति-सूत्र) जबतक भक्त, भगवान् और भक्ति– तीनों एक नहीं हो जाते, तबतक नारद भक्ति-दर्शन उसे प्रेम नहीं मानता। यदि ये तीनों अलग-अलग रहेंगे तो व्यक्ति भटक सकता है। ध्यानके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि उसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी होती है। श्रीशंकराचार्यजी द्वारा विरचित अपरोक्षानुभूतिमें वेदान्तके अनुसार ही ध्यान बताया हुआ है, जिसे निदिध्यासन कहा गया है।

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥

(अपरोक्षानुभूति १०१)

पूर्वमीमांसामें सन्ध्या-वन्दनको नित्य-कर्म माना गया है। अरहरः सन्ध्यं उपासीत्। अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करना ही चाहिए। उसे कभी छोड़ना नहीं चाहिए। अन्य सम्प्रदायोंमें नमाज, प्रार्थना, अरदास नित्यकर्मके रूपमें स्वीकृत हैं। इसी प्रकार यदि कोई जिज्ञासु है तो उसे अपने हित और सुखके

लिए प्रतिदिन निदिध्यासन करना ही चाहिए। कोई कहे कि श्रवणसे ज्ञान होता है, तो यह अपवादमें हो सकता है। आपको निदिध्यासनके द्वारा ब्रह्मचिन्तनका नित्य और दीर्घकालतक अभ्यास करना चाहिए। तभी आप सिद्धवस्तु रसका, आनन्दका अनुभव कर पायेंगे। इसके अतिरिक्त ध्यानके सहयोगी जो अन्य साधन बताये जाते हैं– आसन, प्राणायाम आदि, वे सब गौण हैं। अपरोक्षानुभूतिमें उन्हें निदिध्यासनके 15 अंगोंके रूपमें जिस प्रकार बताया गया है, वही उनका सम्यक्रूप है। वहाँ कहते हैं कि यदि तुम्हें आसन लगाना है तो यह जो परमपवित्र आकाश है, अधिष्ठान है, मैं वहाँ हूँ, यह आसन है। ध्यान किस समय करना चाहिए?कहते हैं कि जहाँ कालकी कल्पना ही नहीं है, उस अपने अकाल स्वरूपमें बैठकर ध्यान करना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायामादि सब कुछको ब्रह्मभावनासे ओत-प्रोत करो। इसीको लक्ष्यकी निर्विकल्पता और निष्ठा कहते हैं। दूसरा कोई उपाय मत करो। चंचलताको मिटानेके लिए हम क्या साधन करें? इसका समाधान भी यही दिया है– 'सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।' (अपरोक्षानुभूति 104) 'सबकुछ परमात्मा है'– इसी भावनासे अपनी इन्द्रियोंको संयमित करो। 'सर्वं ब्रह्मेति' में 'इति' का अर्थ है- बस, यही भावना करो, अन्य कोई उपाय मत करना।' अपनी निष्ठाके अनुसार ही उपाय करना चाहिए। प्राणायाम करना हो तो वह भी इसी ब्रह्मभावनापूर्वक हो। पूरकमें 'मैं ब्रह्म हूँ'– यह भावना करो, कुम्भकमें इसी वृत्तिको निश्चल बनाये रखो और रेचकमें 'प्रपञ्च मिथ्या है'– यह भावना करो। समाधान आत्मानुसारी ही होना चाहिए।

यदि कोई कहे कि पहले अमुक-अमुक चीजका त्याग करो, तब ध्यान होगा। तुम ऐसा कुछ मत करना। प्रपञ्चका जो स्वरूप है, वह ब्रह्म है। टेलीविजनमें जितने रूप, जितनी रेखाकृतियाँ दिखाई देती हैं, उनका अधिष्ठान प्रकाश ही होता है। इसीप्रकार प्रपञ्चका जो अधिष्ठान है, उसकी भावना करो। उसे अधिष्ठानरूपसे देखो कि यह प्रकाशमें ही कल्पित है, तो स्वतः ही प्रपञ्चरूपका त्याग हो जायगा।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

ध्यानका चिन्तन

निदिध्यासनको नित्य कर्म मानो। निदिध्यासनका उपवास मत करना। कोई भी परिस्थिति आ जाय, तब भी नित्यप्रति ध्यान करो। यदि तुम ध्यानका आदर करोगे तो ध्यान अवश्य लगेगा। हमारा जो लक्ष्य है, हमारा जो आत्मा है, वह सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपमें है। अतः सब समय, सब जगह अपना ही अनुभव करना चाहिए। जिसके प्रति सुखकी कल्पना हो जाती है, उसके लिए व्यक्ति बड़े-से-बड़ा दुःख भी सहन कर लेता है। बस, गलती यह हो जाती है कि व्यक्ति आलम्बनसे प्रेम करने लगता है। तब वह प्रेम काममें परिवर्तित हो जाता है, वह प्रेम नहीं रहता।

यह सकल कामधेनु, चैतन्य चिन्तामणि है। इसमें तुम जो माँगोगे, वही मिल जायगा। तुम आनन्दपर, चेतनपर दृष्टि रखो, वह कृपा करेगा और तुम्हारे जीवनको, तुम्हारी प्रत्येक साँसको रसमय कर देगा। यही संकल्पसिद्धि भी है और ध्यान भी है।

हमारा जो प्रकाशन है, प्रकाशका जो प्रकाशन है, जिसे आप मन कहते हैं, वह अपने आश्रय आनन्द प्रकाशकी ओर अभिमुख हो जाय। इधर-उधर ध्यान न जाय, दृष्टि केवल आनन्दपर ही बनी रहे। इस ध्यानका इतना ही सूत्र है– 'अपनी नजर अपनेपर।'

'प्रेम करि काहू न सुख लईयो री, ध्यान करि अनन्त सुख पाइयो री।'

यदि अनन्त सुख प्राप्त करना है तो अपने स्वरूपसे प्रेम करो, जो अनायास है। भट्ट उप्पल कहते हैं –

त्वमेवात्मेश! सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानन् जयेज्जनः॥

'हे मेरे प्रियतम! हे मेरे अन्तःकरणके शास्ता! सारी वृत्तियाँ तुम्हारे वशमें हैं। सबकी अपनी आत्मासे सहज प्रीति होती है और आप मेरी आत्मा हैं, तो मैं आपका अनायास सहज सिद्ध भक्त ही हुआ।' भक्ति व प्रीति तो अपनेसे ही हो सकती है और वह हमारा स्वभाव ही है। अपनेसे प्रेम करना नहीं पड़ता,

वह तो पहलेसे अनायास ही है। जिससे प्रीति होती है, उसका त्याग नहीं हो सकता। जिससे प्रीति होती है, वहीं विश्राम होता है। ऐसी जो स्वभाव-सिद्ध सहज प्रीति है, उसका अनुसन्धान करो। वह हमारी सहज स्थिति है। आप उस आनन्दकी ओर, जो सिद्धरस है, ध्यान दो; तो रसकी जाग्रति होगी और आपको लगेगा कि जगत्, प्रपञ्च, ऊब, नीरसता, भय, काम और मृत्युका अतिक्रमण हो गया।

यह आत्मध्यान, आत्मनिदिध्यासन, आत्मप्रीति है। उसके लिए आप ऐसे भी कह सकते हैं कि हम अपनेसे प्रेम कर रहे हैं; क्योंकि अपने प्रति सबकी सहज प्रीति होती है। मैं निकटतम है, भ्रमोंसे मुक्त है और उसका परित्याग कभी सम्भव नहीं है। अपनेसे प्रेम करो अर्थात् अपना ध्यान करो। यही श्रुति कहती है कि जिस मैं का, आत्माका, ब्रह्मका प्रतिपादन किया जा रहा है, वह आप ही हैं। अपनेसे पृथक् कुछ है– यह बात भी मुझसे ही सिद्ध होगी। सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सबसे पहले मैं ही है; क्योंकि सारी कल्पनाएँ हमारे ही सामने आती और जाती हैं। इन कल्पनाओंके आने-जानेपर भी हम विद्यमान ही हैं। क्या हमें अपने लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता है कि मैं हूँ। सबकुछ हमसे ही सिद्ध होता है। हम प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होते, हम प्रमेय नहीं है। सारी स्थितियाँ, सारे प्रमाण हमसे ही सिद्ध होते हैं। प्रमाण और लक्षण अन्यको सिद्ध करनेके लिए होते हैं, अपनेको सिद्ध करनेके लिए नहीं। जितने प्रमाण हैं, वे हमसे ही प्रकाशित होते हैं, हमसे सिद्ध होते हैं और उनका निर्णय भी हम ही करते हैं।

दार्शनिकोंका एक वाक्य है– लक्षणप्रमाणाभ्याम् वस्तुसिद्धिः। अर्थात् लक्षण और प्रमाणसे ही हम किसी वस्तुको सिद्ध करते हैं। बताइये, सिद्ध कौन करेगा? मैं। अतः मैं ही पहले हुआ। मैं स्वतःसिद्ध, स्वयंप्रकाश और परम प्रेमास्पद हूँ। जो सबको प्रकाशित कर रहा है, उसे आप किसके द्वारा प्रकाशित करेंगे? सबका निषेध कर दिया गया है। परिच्छिन्न मैं के उदय होनेपर सब प्रतीत होता है और उसके लय हो जानेपर सब लय हो जाता है। केवल एक स्फुरणके लय होनेपर सब गायब हो जाता है। जाग्रतिके एक सैकेण्डसे सारा स्वप्न मिट जाता है। वह सत्यवस्तु मैं ही है। कोई दार्शनिक आजतक, अभीतक यह नहीं कह सका कि 'मैं' हूँ, इसे सिद्ध करो।' मैं स्वतःसिद्ध वस्तु है। सुषुप्ति

कौनसे प्रमाणसे सिद्ध होती है? प्रत्यक्षसे अथवा अनुमानसे? सबका अधिष्ठान और प्रकाशक केवल आत्मा ही है– यह बात आप अपने अनुभवसे जान सकते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में है– 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व!' तपका अर्थ है– उधर ध्यान देना। तप ब्रह्म है, अनन्त जाग्रति। ब्रह्म चेतन है। अनन्त जाग्रतिसे आप उस तत्त्वको अनुभव कर सकते हैं, जिसके लिए केनोपनिषद्‌में 'यदा,' 'येन', 'यत्' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। ध्यान देकर 'यत्'का अनुसन्धान कीजिए। ध्यानके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। यह ध्याता, ध्येय, ध्यानकी त्रिपुटीवाला ध्यान नहीं है। त्रिपुटीवाले ध्यानपर विवाद है, वे कल्पित होते हैं। द्वैत अर्थात् अन्यके ध्यानमें भेद-भिन्नताएँ हैं और वे जाने जाते हैं। जो इन्हें जानता है– उधर ध्यान दीजिए। ध्यान और ज्ञान एक ही है। ध्यान देनेसे ही ज्ञान होता है। यह ज्ञानात्मक ध्यान है। 'यस्य ज्ञानमयं तपः।' चेतनका तप क्रियात्मक नहीं होता। उसका तप ज्ञानमय, ध्यानमय, चिन्मय, आनन्दमय होता है। रसात्मक व सुखात्मक होता है। जो अन्य तप हैं, वे द्वेषात्मक होते हैं और अन्यको ही विषय करते हैं। औपनिषद् तप ऐसा नहीं है। ब्रह्म किसी क्रियाका, वृत्तिका विषय नहीं होता। यहाँ तक कि यदि ब्रह्म स्वयं भी अपनेको विषय करना चाहे, तो भी नहीं कर सकता। प्रकाशन हमारा स्वभाव है। उस स्वतःसिद्ध प्रकाशसे ही सब प्रकाशित होता है। उसी प्रकाशको ही हम आत्मा, मैं, आनन्द, ब्रह्म, रस कहते हैं। जिसप्रकार बिना प्रमाणोंके सुषुप्तिका साक्षात्कार होता है, उसीप्रकार सर्व प्रमाणोंसे रहित अपना साक्षात्कार होता है। अपने साक्षात्कारका, अनुभवका एकमात्र उपाय है– निदिध्यासन। श्रुतिकी इस बातका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। अतः पूरी ईमानदारीसे प्रयत्नपूर्वक आप ध्यानमें प्रवेश कीजिए। प्रयत्न या पुरुषार्थका अर्थ है– ज्ञानमय तप। ज्ञानमय तप अर्थात् सबका अधिष्ठान-प्रकाशक कौन है– उधर जिज्ञासापूर्वक ध्यान देना। निदिध्यासन तप है।

विचार कीजिए कि हमारा प्रेम अपनेसे है अथवा नहीं? अपनेसे पृथक् तो प्रीतिकी सम्भावना भी नहीं है। सुषुप्ति सबको समाप्त कर देती है। सुषुप्तिमें बस आप ही शेष रहते हैं। ऐसी सुषुप्तिपर आप क्यों नहीं ध्यान देते? स्वतन्त्र शास्ता प्रमाणोंके अधीन नहीं है, आपके अधीन नहीं है। किसी ग्रह, किसी

ईश्वरके अधीन नहीं है अर्थात् अन्यके अधीन नहीं है।

कहा है– 'प्रेमैव कार्यम् प्रेमैव कार्यम्।' पहला प्रश्न है– 'प्रेम कौन करेगा?' दूसरा प्रश्न है– 'प्रेम किससे करें?' यदि प्रेम करने वालेका पता लग जायगा, तो प्रेमास्पदका भी पता लग जायगा; क्योंकि प्रेम करनेवाला, और जिसके प्रति प्रेम है, दोनों वस्तुतः एक ही हैं। तीसरा प्रश्न है– 'प्रेम क्यों करें?' प्रेम आपका स्वभाव है। आपके वशमें नहीं है कि आप प्रेम न करें; क्योंकि आप अपने बिना नहीं रह सकते। चौथा प्रश्न है– 'प्रेम कैसे करें?' इसका उत्तर ध्यानमें मिलेगा। 'वो छवि मेरे नैनन बसी।' बस, उधर निहारते रहिये अर्थात् उधर ध्यान देते रहिये कि 'कौन जान रहा है', 'कौन हमसे इतना प्रेम करता है', कौन हमें प्रकाशित करता है?' पाँचवा प्रश्न है– 'प्रेम कब करना चाहिए?'

जो हमसे प्रेम करता है, वह सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपमें है, अतः हमें भी उनकी ओर सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपसे देखना चाहिए। छठा प्रश्न है– प्रेम कहाँ करें? उत्तर है– अभी और यहीं। यह परम निरपेक्ष सिद्धान्त है। इसे कोई विचारधारा, कोई दर्शन नहीं काट सकता। इसी एक सत्यको ही जैनियोंने, बौद्धोंने, भक्तोंने अलग-अलग शब्दावलीमें कहा है। दो सत्य होते तो अलग-अलग बातें हो सकती हैं। वस्तुसत्य एक ही है।

अधिष्ठान ही आनन्द है। अधिष्ठान का अर्थ है– आत्मनि, अपनेमें। सारे प्रतिबन्ध हटाकर, बिना किसी शर्तके अपनेमें ध्यान करना है। आप उस वस्तुसत्यका ध्यान कर रहे हैं, जो सर्वरूप है, सर्वदा है और सर्वत्र है। उसमें शर्तोंकी क्या जरूरत है? जबतक द्रष्टा-दर्शन-दृश्यकी त्रिपुटी प्रतीत हो रही है, तबतक वह आत्मध्यान नहीं है। ध्यानमें दृष्टि कहाँ रखनी चाहिए? जहाँ त्रिपुटी उपशान्त हो जाती है।

ध्यानमें सुखाभास भी आते हैं, वासनाएँ भी विघ्न डालती हैं। बस, आप उधर ध्यान मत देना। दो ही उपाय हैं– जिधर जाना है, उधर ध्यान दो और जिसे हटाना हो, उधर बिल्कुल ध्यान मत दो। आपको चित्तकी वृत्तियाँ अथवा कोई विषय बाधा दे रहा हो, तुरन्त उनमें आत्मभाव करना। उन्हें हटानेका प्रयास मत करना, नहीं तो वे और सतायेंगी। आत्मभाव अर्थात् सब परमात्मा ही है।

शंकराचार्यजी कहते हैं– 'यत्र यत्र मनो याति, ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।'

जहाँ-जहाँ मन जाय अथवा जो भी विषय मनमें प्रकाशित हो, उसे आप यही अनुभव करें कि यह परमात्मा है। वहाँ ब्रह्मताकी भावना करते ही विषय और वृत्तियाँ शान्त हो जायँगी और आप पुनः जिज्ञासावृत्तिमें आ जायँगे अर्थात् जाग्रत हो जायँगे। 'कौन जान रहा है'– यह निदिध्यासनका पहला प्रत्यय है। और 'यह सब किसमें जाना जा रहा है'– यह निदिध्यासनका दूसरा प्रत्यय है।

जितनी भी दृश्यविषयक अनुभूतियाँ हैं अथवा अपनेसे पृथक् जितने भी ज्ञान होते हैं, उनके लिए प्रमाणोंका प्रयोग किया जाता है। द्रष्टाकी दिशामें तो प्रमाण भी बाधित हो जाते हैं। आत्माके प्रति प्रमाणोंका प्रयोग नहीं होता। प्रमाण मुख्यरूपसे तीन माने गये हैं– प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण। बाकी जितना भी विस्तार है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणके अन्तर्गत ही है। केवल शब्द प्रमाण ही ऐसा है, जो आत्माकी ओर केवल इशारा-भर कर सकता है, उसे विषय नहीं कर सकता। हमें प्रत्यक्षका, आनुमानिक वस्तुका ध्यान नहीं करना है। हमें तो शब्द प्रमाणको लेकर, जिसे हम श्रद्धा भी कह सकते हैं, द्रष्टाकी दिशामें जाना है। शब्द प्रमाण ऐसा हो, जो अनुभव पर्यवसायी हो। यदि कोई विकल्प आता है तो उसके लिए भी यही उपाय है कि विकल्पोंको कौन प्रकाशित करता है? सारे उपनिषद् हमारा ध्यान हमारी ओर ही लौटा रहे हैं। हम सिद्धवस्तुकी ओर ध्यान दे रहे हैं, न कि साध्य वस्तुकी ओर। साध्य वस्तुके लिए प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है; क्योंकि वह दृश्य कोटिमें है।

सिद्धवस्तुके अनुभवकी युक्ति श्रुतिने बता दी। जो सबको जान रहा है, जो प्रत्यक् चैतन्य है, 'तदेव ब्रह्म'– वही ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म।' 'तदेव त्वं' और 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी इसीमें आ गया। अनुभवके बाद न वह ध्यान रहेगा और न ज्ञान रहेगा। ज्ञानके लिए भी ध्यानकी आवश्यकता है और ज्ञानके बाद भी जीवन्मुक्ति, वासनाक्षय और मनोनाशके लिए फिर ध्यानकी आवश्यकता है। यह पूर्ण ध्यान है, जिसके बाद फिर कोई ध्यान नहीं है।

कुछ लोग जरा-सी झलक मिलते ही अपनेको ज्ञानी मान बैठते हैं और ध्यानादि छोड़ देते हैं। शंकराचार्यजी कहते हैं –

ये हि वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वापि वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये॥ (अपरोक्ष० 131)

'जिन्हें आत्माकार वृत्ति, ब्रह्माकार वृत्तिका अनुभव हो गया है, उन्हें जाननेके बाद उस वृत्तिको गाढ़ करना चाहिए, परिपक्व करना चाहिए।' ऐसा क्यों कहा जा रहा है?क्या ज्ञानमें कोई कमी होती है? नहीं, जन्मसे लेकर अबतक विपर्ययका ध्यान किया गया, वह इतना सुदृढ़ होता है कि उस विपर्ययकी पूर्णरूपसे निवृत्तिके लिए ध्यान करना आवश्यक है, वृत्ति-प्रवाह आवश्यक है, जिससे फिर कोई असन्तोष न रह जाय। कहते हैं कि जो अनुभव करनेके बाद उस अनुभवमें जीते हैं, वे सत्पुरुष ही धन्य हैं और तीनों लोकोंमें पूजनीय हैं। अनुभवके बाद यदि व्यक्ति पुनः देहाकारतामें, व्यवहारमें जीता है, तो यह उस अनुभवका तिरस्कार ही माना जायगा। शंकराचार्यजी कहते हैं–

कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥ (अपरोक्ष० 133)

'जो ब्रह्मकी वार्तामें बहुत कुशल हैं, पण्डित हैं; परन्तु राग, द्वेष, व्यवहारमें ही लगे हुए हैं अर्थात् ब्रह्मचर्चा तो बहुत करते हैं; परन्तु वृत्ति नहीं बनती, निश्चय ही वे अज्ञानी हैं।' अतः आप जो ध्यान कर रहे हैं, उसमें नैरन्तर्य रखिए। निरन्तरताका अर्थ है– आदरपूर्वक प्राथमिकता देते हुए ध्यान कीजिए।

ध्यान कबतक करना है? निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना। अर्थात् आधे क्षण भी वे ब्रह्ममयी वृत्तिके बिना नहीं रहते। नारद भक्ति-सूत्रमें कहते हैं– वह आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं करता। गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं–

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (गीता 8-7)

यहाँ अनुस्मर शब्द दिया है, स्मर नहीं। सर्वेषु कालेषु– सब समय मेरा स्मरण भी करो और युद्ध (कार्य) भी करो। युद्ध जैसा भयंकर दृष्टान्त भी दे दिया।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति– हमारे पास ये तीन प्रयोगशालाएँ हैं आत्मपरीक्षणके लिए। जाग्रत और स्वप्नमें सारा व्यवहार मैं को लेकर ही होता है; परन्तु हमारा ध्यान नहीं है। सुषुप्तिमें भी वही आत्मा मौजूद है। प्रायः लोग मानते हैं कि सुषुप्ति नींद है। निद्रा दो तरहकी होती है– (१) स्वप्न निद्रा (२) सुषुप्ति निद्रा। ये सबको रोज प्राप्त होती हैं, चाहे कोई ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कम समझवाला हो अथवा सूक्ष्म समझवाला हो। निद्रामें स्वरूपकी अज्ञातता

और स्थितिकी क्षणिकता होती है। वह स्वरूपस्थिति ही है, परन्तु क्षणिक। हमें कौन-सी स्थिति प्राप्त करनी है? यह दिशा देनेके लिए हमारे जीवनमें प्रतिदिन सुषुप्ति आती है। जाग्रत और स्वप्नमें जो मैं व्यवहार करता है, वह सुषुप्तिमें अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, न कि सो जाता है। कैसे? 'मैं हूँ और जानता हूँ'– इस बातको कोई इन्कार नहीं कर सकता। जो जानता है, वह चेतन है और जो जाना जाता है, वह जड़ है। चेतन कभी सोता नहीं है, वह जानता है। सुषुप्तिमें चेतन अपनी सजग स्थितिमें ही रहता है। कुछ विचारक कहते हैं कि सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें चला जाता है। जबकि ऐसा है नहीं। वह तो अविद्याको प्रकाशित करता है। मैं अपनेको ब्रह्म, चेतन अनुभव नहीं करता– यही तो अविद्याका रूप है। परन्तु सुषुप्तिमें तो मैं ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, अविद्यारूप नहीं होता। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं। अतः आप निर्विकल्प होकर इसका अनुसरण कीजिए। एक वाक्य है– 'मैं खुद खुदा था, मुझे मालूम न था।' सुषुप्तिमें जो शेष रहता है, वह खुदा ही है और खुद ही है। ईश्वर भी है और ब्रह्म भी। माण्डूक्य श्रुति इसी सुषुप्तिशेषको ईश्वर कहती है–

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।'

यह ईश्वरकी ओर इशारा है। और 'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं'– यह ब्रह्मकी ओर इशारा है। श्रुति सदैव अनुभव पर्यवसायी बात कहती है। जैसे अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षमूलक भी होता है और प्रत्यक्षफलक भी। अर्थात् वह प्रत्यक्षसे ही निकलता है और प्रत्यक्षमें ही पर्यवसित होता है। इसीप्रकार औपनिषद वाणी अनुभवसे ही उदय होती है और अनुभवमें ही पर्यवसित होती है। इसलिए आप इसका अनुभव कर सकते हैं।

सुषुप्तिकी अवस्थामें हम अपने स्वरूपमें चले जाते हैं। नींद एक प्राकृतिक अवस्था है। जब हम उस स्थितिको जाग्रतमें दीर्घकालतक बनाये रहते हैं; परन्तु अज्ञानता बनी रहती है, तो इसका नाम समाधि है। यदि हम उस अज्ञातता और क्षणिकताको हटा देते हैं, तो यह हमारी स्वरूपस्थिति है। समाधिके बाद विवेकख्याति आती है। विवेकख्याति विवेक नहीं है अर्थात् केवल विचारात्मक नहीं है। विविक्तके साक्षात्कारको विवेकख्याति कहते हैं। जैसे हम जड़ और चेतनका विवेक करते हैं, तो चेतन हुआ विविक्त। उसके

साक्षात्कारको विवेकख्याति कहेंगे। समाधिके बाद ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है। ऋत् का अर्थ है– सत्, चित्के निकट। समाधिमें अज्ञातता रहती है, अपने स्वरूपका बोध नहीं रहता, कैवल्यताका अनुभव नहीं होता। अवस्थाकी ओर नहीं जाना है। अवस्था कारणमें होती है। सुषुप्तिके प्रति आपका यह भ्रम बना हुआ है कि वह निद्रा है; जबकि वह स्वरूपस्थिति है। गौर करना ही ध्यान है और इसीसे आपको बोध होगा। गौरसे देखनेको श्रुति ईक्षण कहती है। गौरसे देखो तो आवरण हट जायगा।

हमारा मैं सुषुप्तिमें कहाँ चला जाता है? लोग कहेंगे– अविद्यामें। उपनिषदोंमें कहा गया है कि पुरुष सुषुप्तिमें अपने स्वरूपमें चला जाता है। सुषुप्तिमें 'मैं जीव हूँ', 'मैं अन्तःकरण हूँ'– इस संज्ञाको वह छोड़ देता है। जीवरूपतामें ही जाग्रत और स्वप्न है। सुषुप्तिमें वह अपने स्वरूपसे एक हो जाता है।

यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति॥ (छान्दोग्य० 6-8-1) 'जिस समय यह पुरुष सोता है'– ऐसा कहा जाता है, उस समय यह सत्के साथ सम्पन्न हो जाता है और यह अपने सत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसलिए इसे स्वपिति कहते हैं; क्योंकि उस समय वह अपनेको ही प्राप्त हो जाता है।

बृहदारण्यक श्रुति भी इसी बातको पुष्ट करती है कि जिस समय यह पुरुष शरीर और इन्द्रियोंकी अध्यक्षता छोड़ देता है, उस समय यह पुरुष 'स्वपिति' नाम वाला कहा जाता है। 'अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम।' (बृहदा०)

इसी श्रुतिमें कहा है कि सुषुप्तावस्था ब्रह्मनीड है। सब हृदयाकाशमें ही सोते हैं अर्थात् सुषुप्तिमें सब प्रत्यक्में, अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं।

'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते-०।' सुषुप्तिमें अन्यताका भान नहीं होता, कोई सम्बन्ध-सम्बन्धी नहीं होता, साधन-साध्यका और विशेष ज्ञानका अभाव हो जाता है– 'अत्र वेदा अवेदाः भवन्ति।' विज्ञाताकी विज्ञानशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। सुषुप्तिमें अपनेसे भिन्न कोई पृथक् अस्तित्व प्रतीत नहीं होता कि जिसे विशेष रूपसे जाना जाय।

'यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि

विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति।' (बृहदारण्यक 4-3-30) अपनी अद्वयता व पूर्णताका दिग्दर्शन इसी सुषुप्तिकी प्रयोगशालासे हो जाता है। आत्मानुभव ही सर्वका अनुभव है और सर्वातीतका भी। सुषुप्तिमें अन्यताका प्रकाशन नहीं होता। किसी भी प्रकारकी कामना, विषय सम्बन्धी सुखाभासका, मनोराज्यका व बाह्य कार्यकलापका व सूक्ष्म प्रतीतियोंका प्रकाशन शान्त हो जाता है। इस अपनी स्वयंताको ही सुषुप्तिका नाम दिया गया है–

'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत्सुषुप्तम्।' (माण्डूक्य०) यह सर्वानुभव है कि इसमें निरपेक्ष सुख, अनन्तता, निर्गुणता वस्वयंताका अनुभव ही शेष रहता है। अतः यह कोई तमोगुणी अवस्था नहीं है, यह तो अपनी स्वरूपस्थितिका उदाहरण है। इसी ओर जाग्रति बनाये रखनेसे अपने स्वरूपकी अद्वयताका अनुभव हो जाता है, यही 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्येत्' है।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

निदिध्यासनके लिए सावधानी

शास्त्रोंमें परमात्माके सभी विशेषण दर्शाये गये हैं कि वह सगुण है, निर्गुण है, साकार है, निराकार है। वह सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी है। फिर बताया जाता है कि वही तुम्हारा परम इष्ट है और वह आनन्दस्वरूप है। वही तुम्हें चाहिये। वह तुम्हें मिला हुआ है। ईश्वरको अज्ञात मत मानिये। ईश्वर अर्थात् आनन्द, जो तुम प्रतिक्षण चाह रहे हो। जहाँ तुम जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त केन्द्रित रहते हो।

अद्वयस्वयंताका ही नाम परमानन्द है। अद्वयस्वयंताका ही नाम यस्मिन्, कस्मिन्, अस्मिन् है। वह तीन रूपोंमें निरन्तर अनुभवमें आ रही है। उसका सगुण साकार रूप है– सर्व। यह आकाश उसका सगुण निराकार रूप है, जो मौजूद है। सुषुप्तिशेष उसका निर्गुण-निराकार रूप है। तुम अद्वय हो। केवल उधर ध्यान दो। जैसी महिमा तुमने उसकी सुनी है, वह तुम्हारे भीतर सिर्फ ध्यान देने से आ जायगी। सर्वरूप, आकाशरूप, सुषुप्तिशेष– ये सब अद्वयस्वयंताके विवर्त नहीं हैं, ये वही हैं। 'अद्वय' शब्द किसीको पृथक् नहीं रहने देता। आकाश सामान्य है, चिन्तामणि है, अस्तित्व है, अचल है, अलुप्त है, निर्मल है, अन्तरात्मा है, शरण्य है, अपरित्याग है। ये सब ईश्वरके ही लक्षण हैं। यह स्वीकारकर आप ध्यान कीजिये।

तदीक्षण सर्वरूप उपासना है। ब्रह्मभावनामें आकाशका चिन्तन भी है, बृहत्ता भी है। प्रार्थनामें भी यही सब चीजें आपको मिलेंगी। ब्रह्मभावना एवम् ध्यानकी मुख्य विशेषता है– 'आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्येत्।' इसमें किसी भी अनात्म-करणकी अपेक्षा नहीं है। अपनेमें अपनेद्वारा अपना ही हम ध्यान कर रहे हैं। यह ध्यान ही अनुभव हो जायगा। इससे समस्त प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति व सिद्धवस्तुका अनुभव प्राप्त होगा। अलगसे कोई भी उपाय नहीं करना। आकाश परमात्मा ही है, सगुण निराकार और तुम्हारा सुषुप्तिशेष ही ईश्वर है। ब्रह्मचिन्तनकी प्रक्रिया है– अपनेमें, अपनेद्वारा अपना अनुभव करे– ब्रह्मका अनुभव करे। शरीरमें बैठकर नहीं; सुबह, शाम, रात्रि अथवा किसी कालमें

नहीं; हरिद्वार, बद्रीनाथमें नहीं, अपनेमें, आप जहाँ हैं वहीं, जिस समय हैं उसी समय, जैसे हैं वैसे, ध्यान अपने द्वारा ही करना है। न उसमें बुद्धिकी आवश्यकता है, न मनकी आवश्यकता है। इस ध्यानको करनेसे मन नहीं रहेगा। वास्तवमें वह परमात्मा है। उसे आत्मरूप मानो तो वह परेशान करना बन्द कर देगा। भेद-भिन्नताको जितना बढ़ाओगे, उतना झंझटमें पड़ जाओगे। केवल इस लक्ष्यपर ध्यान रखो कि अद्वयस्वयंता ही पूर्णता है, परमानन्द है, जिसे तुम चाहते हो।

तदीक्षणसे तत्काल शान्तिका अनुभव होता है। किसी भी आकारकी वृत्ति बनती हो, उसको सगुण-साकार रूप, सगुण-निराकार रूप अथवा सुषुप्तिशेष रूपसे आप अनुभव करें। ये परस्पर एक-दूसरेके बहुत उपकारी हैं। तदीक्षणसे आपकी ध्यानमें प्रगति होगी। यही कालातीत ध्यान है और कालरूप भी है। सर्वभजनसे आप सर्वका अतिक्रमण कर जायँगे। जीवनमें सद्भाव, चिद्भाव, आनन्दभाव और अद्वयभाव प्रतिष्ठित होगा। जिसे सब चाहते हैं। 'आनन्द' शब्दमें तुम्हें बहुत जल्दी यह भ्रम हो जाता है कि यह कोई भोगनेकी वस्तु है। इसीलिये मैं बार-बार उसे 'अद्वय स्वयंता' कह रहा हूँ। जहाँ भोक्ता, भोग और भोग्य शान्त हैं, वहाँ वृत्तियोंकी परम् निवृत्ति है। जिससे आप प्रेम करना चाहते हैं, जो प्रेम करना चाहता है और प्रेमाकार वृत्ति– इन तीनोंका अभेद प्राप्त होगा। त्रिपुटी रहनेसे ही लीलाएँ चलती हैं। यह त्रिपुटी अपने-आपमें एक लीला है, खेल है, तत्त्व नहीं।

दुःख भोगनेके लिये नहीं है, अपितु दुःख जागने के लिये है। फिर रुक कैसे गये, फँस कैसे गये? तुम्हें वापस घर लौटना है। त्रिपुटीरहित परमानन्द अद्वयताका अनुभव करना है। अपनी अनन्तताको, बृहत्ताको, परमानन्दरूपताको अपनेमें ढूँढो। इस ढूँढनेका नाम ध्यान है। आप केवल सुषुप्तिशेषकी ओर ध्यान दीजिये। उस सुखकी ओर ध्यान दीजिये। अगर आपने ध्यान नहीं दिया, तो ये स्थूल शरीरमें स्थिति होगी। बस, चुप बैठ गये तो यहींसे प्रमाद उत्पन्न होगा। ऊब शुरु हो जायगी और आप उसे छोड़ दोगे। शुरु-शुरुमें थोड़ा हठपूर्वक करो। वृत्ति जैसे ही प्रत्यक्की ओर लौटनी शुरु होगी, तो फिर लौटती ही चली जायगी; क्योंकि वह सुखात्मक है। अनन्य शरणागति चाहिये; साधनमें अनन्यता चाहिए; क्योंकि वस्तु अनन्य है। अर्थात् अपनेसे पृथक् नहीं

है और न अन्य है। साध्य वस्तुके लिये अनेक रास्ते होते हैं। सिद्ध वस्तुके लिये एक ही रास्ता होता है। साध्य होता है– द्वैतमें। अनन्य चिन्तन ही अनन्यताकी अभिव्यक्तिका उपाय है।

किसीको प्रणाम करना हो तो तदीक्षण करो। मुस्कुराना सीखो। यह आनन्दका विलास है। मुस्कुराते हुए बात करो, मुस्कुराते हुए काम करो– यह आनन्दकी उपासनाके अन्तर्गत है। ध्यान अन्तर्मुख करेगा। बाहरके प्रति उपरामता आने लगेगी। उदासीनतामें द्वैत है और उपरामतामें द्वैतका भाव शिथिल है। यह भी परमात्मा है-यह भी परमात्मा है– इससे उदासीनता नहीं, बल्कि उपरामता आती है। वैराग्य तो उससे होगा, जो हेय होगा। सब तरफसे नजरका हटना ही उपरामता है। व्यवहार करना हो तो आत्मरूपसे। आप अपनी ओर ध्यान दो, तो उपरामता अपने-आप आ जायगी।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

रस-निदिध्यासनपर पुनः दृष्टि

निदिध्यासन शास्त्रका व विश्वका अन्यतम ध्यान है। इसके बाद कोई ध्यान सम्भव ही नहीं। इससे अनादि अविद्या निवृत्त होती है। इसमें अनुसन्धान है। किसी भी प्रकारकी कोई मान्यता नहीं है। यह ध्यान 'सत्य'का अनुसन्धान है। 'सुख'का अनुसन्धान है। 'ब्रह्म'का अनुसन्धान है। यह किसी विषयका ध्यान नहीं है; बल्कि अविषयकी ओर अभिमुखता है। अनुसन्धान बन्द हुआ और आप चुप बैठ गये, तो आपको या तो लय होगा या विचार आने लग जायँगे। अगर अनुसन्धान होने लगा तो रसास्वादन होने लगेगा; क्योंकि सुख तो वहाँ है ही। जैसे सुषुप्तिमें दुःखका कभी कहीं कोई प्रवेश ही नहीं है। यहाँ तक कि वहाँ किसी भी प्रकारके विकल्पका भी प्रवेश नहीं है। इसीप्रकार इस अनुसन्धानमें भी शान्ति-ही-शान्ति, सुख-ही-सुख होनेके कारण रसास्वादन होने लगता है और वह आपको अनुसन्धानसे रोकेगा। यदि तुम्हारी जिज्ञासा नहीं है और कौतूहलवश ध्यान सीखना है, तो ये बाधायें जरूर आयेंगी। जब रुचि नहीं है, तो ध्यान लगनेवाला नहीं है। इसमें सम्मोहन भी नहीं चलता। इसमे शक्तिपात अथवा कुण्डली जागरण आदि भी नहीं चलता। यह 'औपनिषद' ध्यान है। इसमें गुरु अथवा अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता। इसमें ये बहाना भी नहीं चलता कि जब भगवान्की कृपा होगी, तब होगा। औपनिषद ध्यानमें यह बिल्कुल नहीं चलता। दूसरा बहाना कि गुरु करावायेंगे, तब होगा। यह भी नहीं चलने वाला है।

यह पूर्ण रूपसे निरपेक्ष ध्यान है। इसमें न शरीरकी, न मनकी, न किसी अन्यकी जरूरत है, बल्कि यहाँ सबकी जरूरत समाप्त होती है। तभी आप एक परम वस्तुका अनुभव कर पायँगे। यदि कोई कहे कि मेरा शरीर ठीक नहीं है, मेरी परिस्थिति अनुकूल नहीं है– ये सब तुम्हारी अरुचिके बहाने हैं। सत् प्रधान, चित् प्रधान, आनन्द प्रधान, अनन्त प्रधान, निर्विशेष प्रधान अद्वयताके अनुसन्धानसे निदिध्यासन किया जा सकता है। इस रास्ते कोई साथ जाने वाला नहीं है। गुरु, ईश्वर, संसार आदि दृश्य स्वतः ही छूट जायँगे। तब अनन्तपर

दृष्टि जायगी।

श्रीरमण महर्षिका स्मरण कर लो कि कोई शास्त्र पढ़ानेवाला नहीं, किसी महात्माका उन्होंने सत्संग नहीं किया, कोई उनका गुरु नहीं है। ईश्वरको वे मानते नहीं हैं। अभी वह 17 वर्षका बालक है। रमण महर्षिका उदाहरण इसलिये याद रखना है कि तुम्हारे बहाने नहीं चलेंगे कि किसीकी कृपा होगी, तब ध्यान लगेगा। रमण महर्षिने सपनेमें अपनेको मृत देखा तो उसके अन्दर यह जिज्ञासा उठी कि जब मैं मर गया था, तो मेरी मौतको देख कौन रहा था? जब मृत्यु तककी बातसे अनुसन्धान नहीं टल सका, तो छोटे-मोटे बहानेका तो कोई स्थान ही नहीं है। माता-पिता रो रहे हैं। अर्थी बन रही है। इस सबको कौन देख रहा था?यह शैली है मूलके अनुसन्धानकी। यह सत् प्रधान है। कौन जान रहा है, यह चित् प्रधान है। इस ध्यानसे मृत्युका भी अतिक्रमण हो जायगा। मृत्युको भी कोई जानता है और मृत्यु किसकी होती है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। विचार करो कि वह बालक इस जिज्ञासासे लगा रहा और जबतक अनुभवपर्यन्त जिज्ञासा शान्त नहीं हुई; तबतक वह एक मिनट भी रुका नहीं। वे उसीमें लगे रहे। सब अपने-आप छूटता चला गया। उसने कुछ नहीं किया। न उसने यह देखा कि कीड़े उसे काट रहे हैं या उसे खुजली हो रही है। सिर्फ एक सरल जिज्ञासाके अलावा और कुछ नहीं। उस जिज्ञासाको न विज्ञान हल कर सकता है, न शास्त्र, न गुरु, न ईश्वर। वह खुद ही उसे हल कर सकता है। न उसमें तनकी जरूरत है, न मनकी। न बुद्धिको शुद्ध अथवा सूक्ष्म करना है। न कोई घड़ी रखनी है समय देखनेके लिये। न यह देखना है कि आज सोमवार है या शुक्रवार है। न यह देखना है कि आज मैं इतने बजे बैठूँगा, इतने बजे उठूँगा। वहाँ कोई समय-सारणी नहीं है। पर एकमात्र जिज्ञासाने सबकुछ कर दिया। इसीलिये 'कठोपनिषत्' का वाक्य याद रखो– 'अमृतत्वमिच्छन्'। तुम्हारा जीवन चाहे जितना गलत रहा हो, तुम बहुत चालाक रहे हो, तुम भ्रष्ट रहे हो, कोई प्रतिबन्धक नहीं है। कोई अपना पूर्व जन्म व इतिहास देखनेकी जरूरत नहीं है। न अपने गुण देखो, न कर्तव्य देखो, न जिम्मेदारियाँ देखो। न वैराग्यादि सम्पत्ति देखो। केवल 'अमृतत्वमिच्छन्'। वस्तुतः तो उसको अमृतकी भी इच्छा नहीं है। केवल एक जिज्ञासा है कि जो मर गया था, उसे कौन जान रहा था और वह अमृत कौन है, जो मरा नहीं अर्थात् 'अमृतत्वमिच्छन्' की ही इच्छा है। यह

जानकर तुम अपनेसे चालाकी नहीं कर पाओगे।

रमण महर्षिको एकमात्र विजिज्ञासाने उसे सत्यसुखतक छोड़ दिया। वे निरहं हो गये। उसे अनुभवमें उत्तर चाहिये। शब्दोंमें नहीं, वृत्तियोंमें नहीं। परम सन्तोष ही उसका पैमाना था। उसे परम संतोष हो गया। जीवनमें जब भी समस्या मालूम पड़े और उससे निकल न सको, तो प्रार्थना कर लेना। रमण महर्षि निरहम् व्यक्ति है। उसमें अहंकार ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलेगा। 'अनन्त' से प्रार्थना करो। धैर्य रखो। लगे रहो। कहीं भी भटक नहीं पाओगे। तुम भटकना भी चाहो, तो भी भटक नही सकोगे।

रबियाका शरीर बिक चुका है। पूरी पराधीनता है। स्त्री शरीर है। कोई रिश्तेदार नहीं, किसीसे परिचय नहीं। ऐसी असाधारण स्थितिमें उसको दिशा मिल गयी और मिली ही नहीं, वह पहुँच भी गयी। केवल प्रार्थनासे। प्रार्थनाने उसे विपरीत स्थितिसे निकाल दिया। प्रार्थना अर्थात् शरणागतिभाव। चैतन्य महाप्रभुको याद रखो। जहाँ कहीं भी समस्या आ जाय, तो तुरन्त तदीक्षण करना उस समस्यामें। हल मिल जायगा। चैतन्य महाप्रभु सर्वत्र अपने भगवान्‌को देखते थे। रमण महर्षिने यह भी नहीं किया।

विचारोंका मूल क्या है? विचारोंका प्रकाशक कौन है? जितने भटकाव हैं, जितने विचार हैं, जितनी शैलियाँ हैं, जितनी पद्धतियाँ हैं, जितने योग हैं, जितने उपाय हैं, भ्रम हैं– वे सब वृत्तिमें ही आयँगे। बिना मनमें आये किसी चीजका पता नहीं चलता। इन सबको कौन जान रहा है अथवा ये विचार किससे प्रकाशित हो रहे हैं? तुम उधर ध्यान रखो। प्रश्न करके शान्त हो जाओ। उसका उत्तर मत देना कि मैं जान रहा हूँ। आत्माको पता लगता है। भगवान् जान रहे हैं। मैं द्रष्टा हूँ, साक्षी हूँ। ये सब गलत उत्तर हैं। हमें अनुभवसे पता करना है। इसके समाधानके लिए अभिमुख होकर बैठो। यदि अभिमुख होकर नहीं बैठे, तो लय या विक्षेप हो जायगा। रसास्वाद तो बहुत देरमें आयेगा। प्रश्न जबतक अनुभव नहीं करायेगा, तबतक यह शान्त ही नहीं होगा।

'मैं क्या होता है'– इसका उत्तर अनुभवमें आयेगा, शब्दोंमें नहीं। किसीका सहारा मत लेना। यह प्रश्न हर जगह लग जायगा। जैसे कहा जाता है कि अन्तःकरण शुद्धिके बिना ध्यान नहीं हो सकता। गुरुकृपाके बिना, ईश्वरकृपाके बिना ध्यान नहीं हो सकता। ऐसे बहुत विकल्प आयेंगे। केवल

अपनेसे यह पूछो कि इन विचारोंको, इन स्फुरणाओंको कौन प्रकाशित कर रहा है? और 'कौन'की तरफ झुकाव रखो। प्रकाश्यकी ओर झुकाव मत रखो। जो दिख रहा है उसकी तरफ नहीं, जो देख रहा है उसकी तरफ। तुम कौन हो, ऐसा कुछ सोचनेकी जरूरत नहीं। मैं क्या हूँ? कोई उत्तर देनेकी भी जरूरत नहीं है। ऐसा आप कभी भी, कहीं भी, किसी भी समय कर सकते हो। सब जाना तो जा रहा है, परन्तु इसे जान कौन रहा है? जो भी ख्याल उदय हो रहे हैं, लय हो रहे हैं; उनको प्रकाशित करने वालेको देखो। चेतनकी प्रकाशन-सामर्थ्य विषयाकार हो रही है। उसे हटानेकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। वह अपने-आप हट जायगी। आप उस प्रकाशकी तरफ, जहाँसे प्रकाश आ रहा है, उधरकी तरफ ध्यान रखो। वह प्रकाशन, वह ध्यान उस प्रकाशसे एक होकर तुम्हें अनुभव करा देगा। केवल उधर जिज्ञासा बनाये रखनी है। आप देखेंगे कि चुपचाप काम हो रहा होगा। सूक्ष्मतामें अपने-आप खोज चल रही होगी। यदि आपने उत्तर देने शुरु किये तो अनुसन्धान बन्द हो जायगा।

बृहदारण्यक उपनिषद्‌में एक घटना है। याज्ञवल्क्य जनकके पास गये। जनकको उपदेश दिया। जनकको उपदेश दिया। जनकने सौ गौएँ देनेका आदेश दिया, तब याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'जबतक तुमको बोध नहीं हो जाता, तबतक मैं दक्षिणा नहीं लूँगा।' यह औपनिषद कथा है। जब ब्रह्मविद्या पूर्ण हुई, तब इस प्रकरणका समापन हुआ। इतनी निष्कामतासे जब कोई बताता है और इतनी तत्परतासे उसे कोई ग्रहण करता है, तब जीवनमें कोई घटना घटती है। वर्तमानमें विद्या देनेका तरीका औपनिषद नहीं है। औपनिषद विद्या अनुसन्धानात्मक है। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में पिताने पुत्रको बताया, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' अर्थात् तुम्हारी समस्त वृत्तियाँ जिससे उदय होती हैं और जिसमें लय होती हैं, वही सही स्थिति है, उसका अनुभव करके दिखाओ। यह सुनकर पुत्र चला गया। पिताने उसे उपाय भी बता दिया कि तुम तपसे इसका अनुभव कर सकते हो। पुत्र अनुभव करनेके लिये तपपूर्वक रहने लगा। वहाँ उसने यह नहीं किया कि मैं कुछ किताबें पढ़ लूँ या मेरेसे होता नहीं, मेरी समझमें आता नहीं। बस वह तो तत्परतासे लग गया। इस वृत्तिको कौन प्रकाशित कर रहा है? 'येन जातानि जीवन्ति' इसको वह ढूँढनेमें लगा रहा। अन्तमें उसे अनुभव हो गया और वह शान्त हो गया। जब उसे पता लगा कि

'आनन्द'से ही यह सब हुआ है और 'आनन्द' ही इसे प्रकाशित कर रहा है। जो प्रकाशित कर रहा है वह यहीं होगा और अभी होगा। वह किस रूपमें है? केवल इतना तुम्हें खोजना है। इसके लिये प्यास और उधर रुझान चाहिये। यह निदिध्यासन है, ध्यान नहीं। ध्यानमें तो कोई निश्चित आकार होता है, कोई ध्येय होता है। यहाँ अनुसन्धान है। निदिध्यासनका अर्थ है— ध्यान करनेकी इच्छा यानि खोजनेकी इच्छा और प्रयत्न। किसी चीजका ध्यान करना नहीं है। ध्यान करनेकी इच्छा या जिज्ञासा और प्रयत्न हो 'कौन' की तरफ।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

रस-चिन्तन

कुछ भी करनेसे पहले या कुछ भी सुननेसे पहले प्रार्थना करें या संकल्प करें, यही विधि है। यदि ऐसा नहीं करते तो अहंकार आपको धोखा जरूर दे देगा; क्योंकि अद्वैतमें भेदन करनेवाला यही अहंकार है। मुझमें और ईश्वरमें भेद डालनेवाला यही अहंकार है। मुझमें और सर्वमें भेद करनेवाला यही अहंकार है। इसीलिये या तो संकल्पके द्वारा या शरणागतिभावके द्वारा आप इसे उपशान्त रखें, तो विद्याका सम्यक् अधिगम होगा। अगर आप अपनी पूर्व मान्यताओंको, पूर्व संस्कारोंको लेकर बैठेंगे, जिनका कि अध्यक्ष अहंकार है, तो आपको मेरी बात समझ नहीं आयेगी।

एक लड़का एक लड़कीसे प्रेम करता है, तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है। वह उसमें खो जाता है। उसकी याद करता रहता है; क्योंकि उसे अच्छा लगता है। वह लड़का एक प्रयोग करे। जब उसे अच्छा लगने लगे, तो उससमय वह अपनी दृष्टिसे उस लड़कीको हटा दे। उस लड़कीके हटते ही वह खुद भी हट जायगा। अब केवल रस रह गया। यह रसात्मक है। प्रेमके स्वरूपमें 'गुण रहितम्' है। वह आकार रहित है। उसमें गुण या नाम नहीं है। वह अनुभवरूपम् है, न कि अनुभाव्यरूपम्। यानि अपने अहंकारको, जो रसका भोक्ता बन रहा है, उसे हटा दो। अब जो रस रह गया, वही परम प्रेम है। सिद्धान्त यह है कि प्रेममें जब रसाकार, सुखाकार वृत्ति बने तो आलम्बन छोड़ दो, उद्दीपन छोड़ दो। जगा दो रसको। वह रस तो हो गया 'प्रेम' और यदि आकारकी तरफ झुक गये तो वह हो गया 'काम'। जब भोगकी तरफ जाओगे तो 'रस' सूख जायगा और उसकी संज्ञा हो जायगी— 'काम'। भक्ति या उपासना या ध्यान अविच्छिन्न है, निरन्तर है, अनुभवरूप है, गुण रहित है, कामना रहित है। ये सब प्रेमके लक्षण हैं।

रसके लिये सर्वोतम उपाय है— अव्यावृत भजन। अव्यावृत अर्थात् निरापद भगवदाकार वृत्ति-प्रवाह। यह दीर्घ तदीक्षण ही है। जहाँ नजर जाती है, जो भी देखता हूँ, वो मैं ही होता हूँ, रस ही होता हूँ। जब भी देखता हूँ,

अपनेको ही पाता हूँ। जहाँ भी देखता हूँ, वह मैं ही होता हूँ, रस-ही-रस। 'अव्यावृत्त' भजन ही प्रेमका सीधा साधन है। उसे किसी नाम, रूप, शब्दसे मत ढ़को। उसे मालासे मत लटकाओ। उसको समयमें मत बाँधो। उसको ध्यान आदिमें मत कैद करो। 'अव्यावृत भजन' अर्थात् निरन्तर भजन। गीताके सातवें अध्यायके श्लोक 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरः' में 'अव्यावृत भजन' ही बताया है। विषयाकार वृत्ति नहीं और मैं ध्यान करनेवाला हूँ, ऐसा भी नहीं और कोई ध्येय है, ऐसा भी नहीं। ये संकेत ऐसे हैं कि इन्हें आप वृत्तिसे नहीं पकड़ सकते। विषयके चिन्तनसे भ्रमवश विषयमें रस मिलता दिखायी देता है। भ्रमसे लगता है– वहाँ सुख है, परन्तु मिलता नहीं। सभी इसी भ्रममें जी रहे हैं। विषय-रसकी तरहसे भगवद्रस नहीं है। भगवद्रसका अर्थ होता है– भगवान्‌के आलम्बनसे, भगवदाकारवृत्तिसे जाग्रत किया हुआ रस। इसीलिये रस हमारा लक्ष्य है, न कि आलम्बन या उद्दीपन या भोक्ता या भोग्य। ब्रह्मरस निरन्तर है। ब्रह्म रसस्वरूप है। बृहत्ता, अनंततामें विषयाकारता गायब हो जायगी। अनन्तताकी कल्पना करो, तो केवल रस बच गया। न तुम बचे और न कोई विषय बचा। चित् कहते ही 'अनुभव रूपम्' मनमें आना चाहिए। यह अद्वैत रस है। यह श्रृंगार रस नहीं है। इसमें त्रिपुटी नहीं है। 'अमृतास्ते भवन्ति' में अमृतकी प्राप्ति नहीं, बल्कि अमृत ही हो जाते हैं, क्योंकि वे अमृत ही थे। रसरूपमें वृत्ति है, लेकिन रसस्वरूपमें वृत्ति नहीं है। भक्ति, भक्त व भगवान्‌में भगवान्‌से प्यार करो और प्रीतिकी वृत्ति जगा लो। फिर भगवान्‌को छोड़ दो। भगवान्‌के छूटते ही भोक्ता छूट जायगा। फिर तुम भक्त किस बातके रहे। केवल रस है और यही रसाकारता भगवान्‌का स्वरूप था। यही भक्तका स्वरूप है। इन तीनों सत्योंमें भक्ति ही महत्त्वपूर्ण है। इसीके लिये 'नारद भक्ति-दर्शन' की रचना हुई है। आपको जब भी रसका अनुभव होगा, तो त्रिपुटी नहीं रहेगी। त्रिपुटी तो रसमें विक्षेप है।

बृहत्तामें वृत्ति नहीं रहती। वृत्ति परिच्छिन्नताका ही लक्षण है। वृत्ति द्वैतमें होती है, अद्वैतमें नहीं। वहाँ तो शुद्ध रस-ही-रस है। उसी रसकी हम भावना करेंगे। वही हमारा भजन है। पर्यायवाची शब्द सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, अद्वय, निर्विशेषका अर्थ एक ही है। हम परिच्छिन्न नहीं हैं; परन्तु भ्रमवश हमारे मनमें परिच्छिन्नताकी संवित् बनी हुई है। इसलिये हमें संकल्प

करना है। संकल्पका अर्थ है कि आप दिशाहीन कुछ नहीं कर रहे हैं, आपकी एक वृत्ति भी निरुद्देश्य नहीं जायगी। अगर संकल्प नहीं करोगे तो वृत्ति भटक जायगी। हर उठनेवाली वृत्तिका एक केन्द्र है और वह उसीके प्रति समर्पित होगी। ब्रह्म शब्दमें तुम रसकी भावना करो। निश्चित रूपसे हम रसका ही ध्यान कर रहे हैं। सुषुप्तिमें हमें रसका अनुभव है, जिसे मैं शान्ति, सुख कहता हूँ– वह रस ही है। उसकी भावना करो। पिछली बार यदि असावधानी रह गयी थी तो अब और अधिक सावधान रहो। इसमें कुछ करना नहीं है, केवल सावधानी ही साधन है। ब्रह्मभावनासे ब्रह्मरसकी जागृति होगी । यह ब्रह्मभावना सवेरे उठते ही एवम् सोनेसे पहले नित्य करो। इस प्रक्रियामें केवल अपना ध्यान जाना है कि 'हाँ मैं ऐसा हूँ।' और कुछ नहीं करना है; क्योंकि अवचेतन मनमें द्वैतके अनेक संस्कार भरे हुए हैं। हम लोग चेतन मनमें प्रयास करते हैं; जबकि संस्कार भरे है अवचेतन मनमें। इसीलिये लड़ाई चल रही है। चेतन मनमें हम कह रहे हैं– 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं चेतन हूँ।' लेकिन अवचेतन मनमें है कि 'मैं मूढ़ हूँ', 'मैं बुद्धिमान् हूँ', 'मैं रोगी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ।' आपने इनका लगातार जप कर रखा है, अव्यावृत भजन कर रखा है। स्वीकृतिका अर्थ है– वरण। बस, स्वीकार होते ही सब सम्यक् हो जायगा। क्योंकि हम तो पहले से हैं और रहेंगे भी यही।

हमको अपने स्वरूपके अनुरूप भावना करनी है। धारणा हमेशा कारण-शरीरमें ही रहती है और वहींसे सबको संचालित करती है। ये ब्रह्मभावना, रसकी भावना भी वहीं पहुँचेगी, जहाँ अरस व असावधानीसे उत्पन्न हुए संस्कारोंको वह भस्म कर दे। वहाँ जब प्रकाश जायेगा, तब अन्धकारमें होनेवाले सब कीड़े-मकोड़े शान्त हो जायँगे। श्रीकृष्ण तो रोज ढाई घड़ी अर्थात् 1 घंटा सवेरे उठते ही ब्रह्मभावना करते थे। आनन्दसे ही सब प्रवृत्त होते हैं और आनन्दके लिये ही। हम अव्यक्त थे, आनन्दस्वरूप थे। अव्यक्त होनेवाले हैं। आनन्द होने वाले हैं। चेतनकी किस्मतमें और क्या हो सकता है? हम आनन्दस्वरूप थे, बीचमें हमारी असावधानीवश थोड़ी-सी भूल हो गयी। आनन्दके लिये ही सब हो रहा है। सबको रस चाहिये।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

ध्यानका सिद्धान्त

ध्यानकी एक उत्तम विधि भागवत महापुराणके 11वें स्कन्धके 14वें अध्यायमें बताई हुई है। यह प्रामाणिक है। योगदर्शनमें ध्यानके विषयमें जो दिया हुआ है, वह आध्यात्मिक ध्यानपर कम, सामान्य ध्यानपर अधिक लागू होता है। योगदर्शनका सूत्र है– **'तत्रैकतानता ध्यानम्'**। जो भी तुम्हारा लक्ष्य हो, उसको प्रवाहरूपसे अनुभव करना। मनकी दो गति हैं। गीतामें आया है– 'मनश्चंचलमस्थिरम्।' मन चंचल और अस्थिर है। इन दोनोंका अर्थ भिन्न-भिन्न है। संसारमें जो परिवर्तनशीलता है, वह तथ्य है, सत्य नहीं। सत्य एक होता है, तथ्य अनेक होते हैं जो प्रकृतिमें होते हैं। सत्य माने चेतन। प्राकृतिक तथ्य है कि मनका स्वभाव अस्थिरता है, वह बदले बिना नहीं रहेगा। कोई उसको रोक नहीं सकता। केवल उसकी चंचलताको रोका जा सकता है। जैसे– एक चीज अपनी जगह निरन्तर बदल रही है, बदलते हुए वह कभी स्त्री व पुरुषके आकारकी, कभी दुःख व सुखके आकारकी, कभी राग व द्वेषके आकारकी होती रहती है। इतने विविध व अनेक आकारोंका बनना चंचलता है और उसका जो बदलनेका स्वभाव है, वह है– अस्थिरता। हमारे वशमें केवल उसकी चंचलताको नियंत्रित करना है। अस्थिरता उसका स्वभाव है। जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता है। अगर अग्निमें से उष्णता निकाल ली जाय तो अग्नि समाप्त।

मनको ही हम वृत्ति या प्रकाशन कहते हैं। वृत्ति तो रहेगी। ब्रह्माकारवृत्ति या विषयाकारवृत्ति या भगवदाकारवृत्ति रहेगी। केवल उसकी विविधता, चंचलता जो उसमें है, उसका निरोध हो सकता है। वृत्ति पाँच तरहकी हैं। केवल उसके चंचलता अंशको शान्त करना है। वह प्रवाहित तो रहेगी ही रहेगी। कृष्णका ध्यान करनेके लिये हम कृष्णाकारवृत्ति बनाते हैं। वह टूटेगी; क्योंकि अस्थिरता है। मनका स्वभाव है– गति। मन फिर दुबारा कृष्णाकार होगा। फिर टूटेगा, फिर कृष्णाकारता। यह एकतानता प्रवाह हुआ। मनके ठहरनेका अर्थ है– मनका न रहना। आनन्दाकारवृत्तिकी एकतानता,

जिससे वह अनन्त व अखण्ड हो जाय; जैसा कि वह स्वयंमें है।

गीताके छठे अध्यायमें आया है– 'आत्मसंस्थम् मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'। आत्मा शब्दका अर्थ है– 'मैं', आत्माकारवृत्ति। अर्थात् न 'वह', न 'यह', जो शेष रहा उसका नाम 'मैं' है। न तदाकारवृत्ति, न इदमाकारवृत्ति, न प्रत्यक्षाकारवृत्ति, न परोक्षाकारवृत्ति न अपरोक्षाकारवृत्ति, केवल साक्षादपरोक्षवृत्ति। न प्रकाशकाकारवृत्ति, न प्रकाश्याकारवृत्ति, केवल प्रकाशाकारवृत्ति। वृत्ति और आत्मा एक हो गये। इन्हें अलग-अलग मत मानना। अगर अलग मानोगे, तो विषयाकारता आ जायगी। जो तुम हो, वही मन है– ऐसा अनुभव करो। आकारों व नामोंमें सोचना बन्द करो। तो मन व आत्मा एक ही अनुभवमें आयेंगे। यही प्रक्रिया भागवतके 11वें स्कन्धमें है। श्रीकृष्णने उद्धवको ध्यानविधि बतायी है। मनको मुझमें प्रविष्ट करो अर्थात् तथ्यको सत्यमें मिला दो। मिला दो माने पृथक् न देखो। अद्वैतके सिवाय ध्यान करनेका कोई और तरीका सही नहीं है। अलग-अलग मानकर, एक करना चाहोगे तो कभी नहीं होगा और न ध्यान ही होगा। उसको एक कैसे करें? नामरूपोंमें सोचना बन्द कर दो। आत्माका परिचय प्राप्तकर उसीका ध्यान करना सीखो।

ध्यानकी एक दूसरी प्रक्रिया सुनो। मन या वृत्ति या प्रकाशनको शान्त करनेके लिये छान्दोग्य उपनिषद् कहता है कि 'मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करो।' तो ये एक हो जायँगे। जो भी वृत्ति हृदयमें उठती है अथवा मनमें जो भी विचार आता है, उसको यह अनुभव करो कि यह ब्रह्म है, चेतन है, परमात्मा है, मैं है। ऐसी भावना करोगे तो ये एक हो जायँगे। इसकी चंचलता समाप्त हो जायगी और एकाकार वृत्तिप्रवाह चलता रहेगा। आत्माकारता टूटेगी जरूर; क्योंकि वह अस्थिर है। केवल उसकी चंचलताको निवृत्त करना ही पर्याप्त है। यही सारी सिद्धियोंका लक्ष्य है। जो तुम चाहते हो, उसका तदाकार वृत्तिप्रवाह चलाओ। वह तुम्हें सिद्ध हो जायगी। एकादश स्कन्धमें आया है– 'मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभाः।' मेरी धारणा करनेसे विश्वमें ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो दुर्लभ हो। अर्थात् मेरी धारणा करो तो सब सिद्धियाँ मिल जायँगी। बस, संकल्प बदलते रहो और सिद्धियाँ प्राप्त करो। सूर्यमें संयम करोगे, तो जहाँ-जहाँ सूर्यकी रोशनी पड़ती है; वहाँ-वहाँका तुम्हें पता लग जायगा, यहीं बैठे-बैठे। अगर कण्ठकूपमें संयम करोगे तो भूख व प्यासपर

तुम्हारा नियंत्रण हो जायगा। यदि आप परमात्मापर संयम करते हो तो सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी। यहाँ धारणा शब्द दिया है। कोई जरूरी नहीं है कि 'एकतानता' ही हो। सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये धारणा चाहिए, ध्यान नहीं। एक स्थानपर मनको एक-दो मिनट रोक देना अर्थात् उसकी विषयाकारता बन्द कर देना। निराकारतासे निराकारता-प्रवाह चलता रहेगा। चंचलता समाप्त होगी। इस चंचलताको समाप्त करना ही सिद्धियोंकी प्राप्तिका उपाय है। सारी सिद्धियोंका यही रहस्य है। यदि तुम ज्ञान, ध्यान, सुख सिद्ध करना चाहते हो तो सबका एक ही उपाय है।

नींद 5 या 10 सैकेण्ड आती है; क्योंकि सुषुप्तिमें साँस रुक जाती है। आपको रोकनेकी आदत नहीं है। जिनका कुम्भक अच्छा होता है, वे बहुत गहरे सोते हैं। 5-10 सैकेण्ड नींद आती है, फिर सपना चालू हो जाता है। विषयाकारताके अभ्यासके कारण 24 घण्टोंमें सुषुप्ति अवस्था 25-30 मिनट रहती है। इतनेसे ही हम तरोताजा हो जाते हैं। सुषुप्ति अपने स्वरूपको पहचाननेका स्थान है तथा ध्यानका एक नमूना है। ध्येयको 'मैं' से जोड़ना, फिर अनन्ततासे जोड़ना– ऐसा करनेसे विषयाकारता शान्त हो जायगी। अस्थिरता शान्त नहीं होगी। वह तो उसका स्वभाव है। मन या तो रहेगा या नहीं रहेगा, इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। विषयाकारता दो प्रकारसे ही शान्त हो सकती है। 'मद्रूपे उभयं त्यजेत्' अथवा 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।' 'आत्मसंस्थो अमृतत्त्वमेति'– अपनेमें अथवा अनन्ततामें। अन्य प्रकारसे मन नहीं रुक सकता। कोशिश मत करना। 'मैं' का अर्थ आनन्द होता है और 'आकाश' का अर्थ भी आनन्द ही होता है।

मुझे सुख प्राप्त करना है– इसका अर्थ है कि सुखसे तुम्हारी दूरी, देरी, भिन्नता है। तब सुख प्राप्त होनेवाला नहीं है। जिसे तुम 'मैं' कहते हो, यही 'सुख' है। कभी अपनी ओर रुककर देखो। तुम्हें आनन्दकी उपलब्धि होती है या नहीं? धारणासे ही चमत्कार होते हैं। प्रार्थनामें कुछ सैकेण्डकी धारणा है। ध्यान पहले तुम्हें आनन्दके स्रोतसे जोड़ेगा, फिर तुम्हें ही आनन्दका स्रोत बना देगा। धारणा शब्दात्मक नहीं होती, संकल्प शब्दात्मक होता है। संकल्प अर्थात् सम्यक् कल्पना, जिसमें विकल्पना नहीं है। वे संकल्प सिद्ध होते हैं, जिनमें विपरीत कल्पना न हो।

'अनन्तता' और 'आत्मरूपता'– ये ध्यानके दो आधार-स्तम्भ हैं अर्थात् आनन्द है। आनन्द बृहत् होता है, अल्प नहीं। देह-प्रेक्षामें अनन्ततापर ध्यान रखना है अर्थात् आकाशपर। यदि दृष्टिमें अनन्तताकी कोई कल्पना या भावना दृढ़ हो गयी, तो 24 घण्टे मस्त रहोगे। बिना कारणके खुश रहोगे; चाहे कितनी भी परिस्थितियाँ उल्टी-सीधी आ जायँ।

अध्यात्ममें प्रवेश करना हो तो इस शरीरको लाँघकर ही जाना पड़ेगा। अन्यथा ध्यान हो नहीं पायेगा। 'देहप्रेक्षा' की विशेषता यह है कि आपका 'मैं' अनन्ततासे एक हो जायगा और शरीरसे हट जायगा। अब शरीर केवल उपकरण मात्र रह जायगा। जैसे गाड़ीका उपयोग करते हैं, वैसे ही आप शरीरका उपयोग करो; परन्तु आप शरीर नहीं हैं। कंचन, कामिनी, कीर्ति एवं कर्म– जितने भी विषय हैं, ये सुखके लिये नहीं हैं। ये निर्वाहके लिये हैं। सौ व्यञ्जन खानेके लिये नहीं हैं, उस सौ मेंसे अपने अनुकूल छाँटनेके लिए हैं। इसीलिये विविधता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे भोगनेके लिये नहीं हैं। ऋषि केवल निर्वाहके लिये शादी करते थे, सुखके लिये नहीं। सुख तो केवल अपनेसे ही मिल सकता है। अपनेसे नहीं, अपनी ओर ध्यान देनेसे। सुख आजतक तो दुनियामें किसीको मिला नहीं। सब आशा लगाये हैं कि आगे सुख मिलेगा। ऐसा कर देंगे तो मजा आ जायगा। फिर भी वे खालीके खाली ही रहते हैं। आनन्दमयकोषके अन्यथा प्रभाव हैं। ऊब, काम व भय; जिससे सब ग्रस्त हैं। आनन्दमय कोष, अन्नमय कोष, मनोमय कोष, प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोषको लांघना है; अतिक्रमण करना है, तैरना है। उन्हें मिटाना नहीं; क्योंकि वे हैं नहीं। मरुभूमिके जलका अतिक्रमण होता है, न कि उसे मिटाया जाता है। सुख दिखता है, होता नहीं। इसके अतिक्रमणका उपाय है– 'देहप्रेक्षा वाला ध्यान।'

ध्यानमें दृश्य बाधा नहीं देता। दृश्यकी स्वीकृति बाधा देती है। विचार जितने आते हैं, वे दृश्य व अनात्म सम्बन्धी ही आते हैं। इसीलिये हम अपनी ओर नहीं चल पाते और अपनेमें रह नहीं पाते। मनकी चंचलता इसी कारण है कि हमारी सैकड़ों स्वीकृतियाँ हैं। यह भी होना चाहिये, वह भी होना चाहिये। परस्पर विरोधी स्वीकृतियाँ हमें सही जगह ठहरने नहीं देतीं। ध्यानमें दो ही बाधायें हैं– लय हो जाना या कुछ-न-कुछ विक्षेप होना।

ध्यानके लिये यह दृष्टि बहुत उपयोगी है कि जो बीत गया, वह सपना था। इसे जाग्रतमें लागू करो। जागते ही सपना मिथ्या नहीं होता, अपह्नुत होता है। न उसकी भ्रान्ति रहती है, न प्रतीति। मरुभूमिका जल दिखता है, होता नहीं। आकाशकी नीलिमा दीखती है, होती नहीं। परन्तु सपनेके बारेमें न दीखता है, न है। इससे कर्त्तापनसे मुक्ति मिल जायगी। सपनेका कोई कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व हमपर लागू नहीं है। पिछले क्षणतक सब स्वप्न था। ये व्यर्थके सपने, मनोराज्य ही ध्यानमें बाधा डालते हैं। 'जिस बातके सोचे बिना मेरा काम चल सकता है, उसे मैं क्यों सोचूँ?' ऐसा निर्णय लो। मनमें गति आती है, भूत या भविष्य विषयक सोचनेसे। भूतकी कोई बात न सोचो और भविष्यका कोई चिन्तन न करो तो अब क्या बचेगा? मन है ही नहीं। तुम बिना किसी प्रयोजनके पिछली बातें याद करते हो, आगेकी योजनाएँ बनाते रहते हो। ध्यानसे उठकर बना लेना। ध्यानके समय कुछ भी नहीं सोचूँगा– ऐसा संकल्प करो। समझदारी यह है कि पिछली बातोंको यादकरके हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा– ऐसा विचार करो। सारे विचार-विक्षेप अहंकारकी वृत्तियाँ हैं। अगर तुमने यह सोच लिया कि अहंकार नहीं है तो बड़ी जल्दी अतिक्रमण कर जाओगे। यदि सोचा कि अहंकार है, तो देर लग जायगी। केवल सत्यकी ओर ध्यान दो। वृत्तिकी भी जरूरत नहीं। अब 'महाभाव' की साधना करो, जहाँ रस-ही-रस हो। 'महाभाव'का अर्थ है– 'अनन्त भाव।' रसकी उत्पत्ति नहीं होती। रसकी व्यावृत्ति नहीं होती। रस सिद्धवस्तु है।

'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्...' इत्यादि। अर्थात् कौन कह सकता है कि यह सृष्टि हुई है? क्या कभी सृष्टिकर्ताने आपको आकर कहा है कि मैंने सृष्टि बनायी है। क्या तुम्हारी विचारशक्ति और बुद्धि सृष्टिके अन्तर्गत नहीं है? क्या ये अपने कारणको कभी ग्रहण करेगी? जब सृष्टि है नहीं केवल दिखती है, तो इस दिखनेके जंगलमें क्यों घूमना। ब्रह्मभावना अर्थात् 'महाभाव'। संकल्पका अभिप्राय होता है कि इसे पहले स्वीकार करो। यदि तुम यह स्वीकार नहीं करोगे कि मैं रसस्वरूप हूँ, तो रसकी साधना कैसे चलेगी? 'मैं आनन्दस्वरूप हूँ'– इसे पहलेसे बिना स्वीकार किये, जिस आनन्दको प्राप्त करोगे, वह मिट जायगा। संकल्पमें विकल्प मत लाओ। इसे श्रद्धासे स्वीकार कर लो। तुम यही हो, यही तुम्हारी नियति है। तुम यही थे और यही होनेवाले

हो। इस समय भी हमें रसकी ही याद करनी है। याद करते ही हम रसस्वरूप हो जायँगे। यह न तो श्रुतिविरुद्ध है, न युक्तिविरुद्ध और न अनुभवविरुद्ध है। 'मैं सच्चिदानन्द अनन्त अद्वय परमात्मा हूँ'– इसे स्वीकार करो कि मैं ऐसा ही हूँ। इन शब्दोंका अर्थ एक ही है। जो सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है। वही अनन्त है, वही अद्वय है, वही परमात्मा है। मैं सर्वत्र, सर्वदा और सर्वरूपोंमें उपस्थित हूँ। मैं ही सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सृष्टि, स्थिति, प्रलयका कर्त्ता, सर्वकारण, अकारण भगवान् हूँ। इससे बड़ी सकारात्मकता सम्भव ही नहीं है। यह सत्यानुसारी है। उपनिषदोंके अनुसार है। पहुँचे हुए सन्तोंके अनुसार है। अपना स्वरूप है। 'कृष्ण-रस' है। इधर ध्यान देते ही रसाभिव्यक्ति होगी और जीवन रसमय हो जायगा। 'कृष्ण' का अर्थ है, जो आकर्षित करे। कौन आकर्षित करता है। सब अपनी ओर जाते हैं। नींदमें, सपनेमें अपना साथ तो कोई छोड़ नहीं सकता। क्या सुखको कोई छोड़ सकता है। सब अपनी ओर आकर्षित होते हैं। यही कृष्णका उपदेश है। ध्यान तभी जायगा, जब आप ऐसा मानेंगे कि हम इस रसके बिना जी नहीं सकते। वह हम ही तो हैं।

अपना परित्याग कौन कर सकता है? चाहे कितने ही आरोप हुए, प्रत्यारोप हुए, दुःख आये, कष्ट आये, फिर भी हम अपना परित्याग नहीं कर सके। 'आत्मरस' या 'कृष्णरस'। 'राधा' अर्थात् ब्रह्मविद्या, 'कृष्ण' अर्थात् ब्रह्म चैतन्य। ब्रह्मविद्या क्या ब्रह्मको छोड़कर अलग रह सकती है। भावना अवचेतन मनमें सीधी जाती है, कारण शरीरमें। फिर हमारा जीवन उसी कारण शरीरसे नियन्त्रित होता है। वहींपर वासनाएँ, संस्कार पड़ते हैं। जड़का संस्कार जड़ ही ग्रहण करता है। चेतन संस्कार ग्रहण नहीं करता। इसीलिये केवल स्वीकृति चाहिए। 'दृष्टि' और 'स्वीकृति' बस, साधनाका केवल इतना ही काम है। दृष्टि डलवाना मेरा काम है और स्वीकृति देना आपका काम है। जो ठहरी हुई वस्तु है, उधर ध्यान देना है। तुम ठहरे हुए हो, अविनाशी हो, अपरिवर्तनशील हो, अविकारी हो, निष्क्रिय हो। बस अपनी ओर ध्यान दो। यह ध्यान किसी ध्येयका नहीं है। इसमें तो ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका ऐक्य है। जिस दिन भी यह घटना घटेगी, उसदिन आपकी वृत्ति नहीं रहेगी। 'ध्यान' शब्द यह प्रकट करता है कि कोई ध्येय है। यहाँ ध्येय भी हम हैं, ध्याता भी हम हैं और

ध्यान-वृत्ति भी हम ही हैं। आपको कुछ ही दिनोंमें अनुभव हो जायगा। तुम केवल सुषुप्तिशेष होकर रहो। जो तुम्हारा अनुभव है, वह तुम खुद हो। अब ब्रह्मभावना करो। मैं ही भक्ति, ज्ञान व योग हूँ। सारी साधनायें, सारे योग मुझमें ही हैं, मद्‌रूप हैं और मुझको प्राप्त करानेवाले हैं। यह ध्यान ब्रह्मज्ञानतक जाता है।

नेति-नेतिसे ध्यानकी प्रक्रिया अलग है और ओमिति-ओमिति प्रक्रियासे ध्यान अलग होता है। 'सब परमात्मा है', यह चिन्तनकी एक विधि है। 'यह परमात्मा नहीं है, जो शेष बचा, वह परमात्मा है।' ये दो तरीके हैं। परमात्मा विषय नहीं हो सकता, इसलिये उसका ध्यान भी नहीं हो सकता। जब वह आत्मरूप है तो फिर ज्ञान ही पर्याप्त है परन्तु वह ध्यानरूप ही होता है। अपना ध्यान ज्ञानरूप ही होता है। आनन्दका अर्थ है– ब्रह्म। उसकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है, अन्यरूप ध्यानसे नहीं। ध्यान कौन करेगा, हम ही करेंगे अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्मका ध्यान करेगा। क्योंकि दो चेतन होते नहीं। चेतन ही चेतनको अनुभव करेगा। इस अनुभवको कुछ लोग ज्ञान कहते हैं और हम इसे ध्यान कहते है। यहाँ ज्ञान व ध्यानमें अन्तर नहीं है। अन्य हो तो अन्तर होगा। हमें किसी भी अनुभवमें आने वाली वस्तुकी ओर ध्यान नहीं देना है।

सबसे निकटतम 'मैं' है। उसे तुमने इधर-उधर देखना शुरु कर दिया, इसलिये वह कठिन लग रहा है। अँगुली समीप है या आँख? आँखसे निकटतम मन है और मनसे निकटतम साक्षी, साक्षीसे निकटतम बोला नहीं जा सकता। वह अनुभव किया जा सकता है। उससे आगे वाणी बन्द हो जाती है। मन, बुद्धि भी शान्त हो जाते हैं। अब जो शेष बचता है, उसका नाम 'आनन्द' है, अविनाशी आनन्द। आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती, बस दृष्टि गयी और मिल गया। मिलनेके बाद फिर कभी बिछुड़ने वाला नहीं। उसका नाम-रूप कुछ नहीं है। 'मैं' का नाम-रूप कुछ होता ही नहीं। 'मैं' शब्द भी आरोप करके बोलते हैं। जो शुद्ध 'मैं' है, उसके लिये कुछ शब्द बना लिये गये हैं।

सत्, चित्, आनन्द, अनन्त, निर्विशेष, अद्वय शब्दसे कोई नाम, रूप, गुण या प्रभाव हाथ नहीं लगेगा। ध्यानकी नकारात्मक व्याख्या है– 'न किंचिदपि चिन्तयेत्।' अर्थात् कुछ भी न सोचिये। जब तुम कुछ नहीं सोचते हो, तो क्या होता है? प्राणकी गति बन्द होने लगती है। इन्द्रियोंकी चेष्टा कम हो जाती है। मस्तिष्क यानि मनकी उधेड़-बुन शान्त होने लगती है। बताओ क्या

बचेगा? इससे विद्यमानका अनुभव हो जायगा, जो है। भूत, भविष्य, वर्तमान भी नहीं है। वह 'मैं' है। शान्त होकर देखो। उसी स्थितिका ध्यान बता रहा हूँ। हो सकता है किसी दिन तुम्हारा ध्यान उस इशारेको पकड़ ले।

निदिध्यासन वाली पद्धतिसे भी आप इशारा समझ सकते हैं। वह नेति-नेति पद्धतिसे होता है। भावना ओमिति प्रक्रियासे होती है। 'आत्मसंस्थम्' सकारात्मक है तथा न 'किंचिदपि चिन्तयेत्' नकारात्मक। ऐसे ही भागवतके 11वें स्कन्धके 14वें अध्यायमें भी यही प्रक्रिया दी गयी है कि अब अपने मनको मुझमें आरूढ़ करो और कुछ न सोचो। आकाशाकारवृत्ति करते ही आत्माकारवृत्ति बनेगी। दूसरा कोई तरीका ही नहीं है। भागवतमें कहा गया कि इस ध्यानसे तुम्हारे सारे भ्रम शान्त हो जायँगे और द्वैत व अन्यताका भ्रम भी मिट जायगा अर्थात् देरी, दूरी, भिन्नताका भ्रम मिट जायगा।

आप ही जज हो। ध्यान भी आप करनेवाले हो। ध्यानसे मिलनेवाले भी आप खुद ही हो और उसका निरीक्षण-परीक्षण करनेवाले भी आप ही हो। 'आत्मनि आत्मना आत्मानम् पश्येत्।' अपनेमें अर्थात् अनन्ततामें, अपने द्वारा अर्थात् साक्षी, चेतन, सुषुप्तिशेषके द्वारा, अपना यानि जो साक्षी, चेतन, आकाश है, उसका ध्यान करें, अनुभव करें। यह दुराशा और प्रतीक्षा छोड़ दें कि कोई शक्तिपात अथवा जादू हो जायगा। तुम्हारे अन्दर जो अन्यताका संस्कार बना हुआ है, यही बाधा डालता है। तुम निभृत निकुंजमें जाओ, जहाँ राधा रानी हैं, जो ब्रह्माकारवृत्ति हैं। वहाँ दूसरा कोई न विषय, न विषयी, न मन, न तन, निभृत निकुञ्ज'। वहाँ किसी गोपीका प्रवेश नहीं है।

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' अपने स्वरूपकी, आनन्दकी जो हमें पहचान है, उधर ध्यान देनेका प्रयास ही अभ्यास है। जाग्रति ही प्रयास है। जिसको प्यास नहीं है, उसको पानीकी आवश्यकता नहीं है। अतः आत्म-जिज्ञासाकी अत्यन्त आवश्यकता है। जब विषयोंमें सुखकी भ्रान्ति बनी हुई है, तो निश्चित रूपसे विषयोंकी ही जिज्ञासा रहेगी, सत्यकी नहीं। विषयोंकी ओर ही उनका रुझान रहता है और वही उनका आधार है। अभय स्थितिमें उन्हें भय दिखायी देता है। कंचन, कामिनी, कीर्ति व कर्ममें सब केन्द्रित हैं। तर्क यह दिया जाता है कि हमें विषयोंमें तत्काल सुख मिलता है, भले आगे हमें कितने ही दुख क्यों न हों। वे लोग तर्क देते हैं कि अभी तो मजा

ले लो, आगे देख लिया जायगा। चारों तरफसे विज्ञापन हो रहा है और आपको ट्रेनिंग दी हुई है। गर्भकालसे अबतक यही शिक्षा दी गयी है कि सामने देखो, पीछे कभी मत देखो। संसार कहता है कि प्रत्यक्षमें ही सुख है। भक्त कहते हैं कि परोक्षमें सुख है। धार्मिक कहते हैं कि परोक्षमें सुख है। यह भी कहा जाता है कि सब रास्ते उधर जाते हैं, यह बात गलत है। यह संसारके लिये होता होगा। सत्यसुखकी प्राप्तिके लिए केवल एक ही रास्ता है। इतना बडा प्रमाण है कि आजतक किसीको परोक्ष एवम् प्रत्यक्षसे सुख नहीं मिला। इतना बड़ा सम्मोहन है कि व्यक्ति उधरकी तरफ ही देखता है। तुम्हारा समस्त योगक्षेम तुम्हें जो चाहिये, वह सब अपने-आपमें मिलेगा। फिर भी हम उसे दूसरेमें, परोक्षमें ढूँढते हैं।

जिस 'अस्मिन्'का तुम्हें ध्यान बता रहा हूँ, इसके प्रति तीव्र जिज्ञासाका नाम ही 'परम प्रेम' है। क्योंकि परम प्रेम का वर्णन 'अस्मिन्' को छोड़कर नहीं किया जा सकता। यहाँ मुख्य 'अस्मिन्' है 'प्रेम' नहीं। 'प्रेम' भी भोगकी ही एक अवस्था है। व्यक्ति सूक्ष्म भोग चाहता है। भक्तिका पर्यवसान 'अस्मिन्' में ही है। 'प्रेम' का अर्थ है– प्रीति, रुचि, जिज्ञासा। यह जब दृश्यके प्रति होती है, तो काम, क्रोध, लोभ, मोह कहलाते हैं। परोक्ष प्रीति 'परम' नहीं होती। सहज सिद्ध प्रेम हो सकता है तो वह 'अस्मिन्' में ही हो सकता है। ध्यान देनेसे ही 'अस्मिन्' में प्रीति बढ़ेगी। 'प्रीति' 'अस्मिन्' का अनुभव करायेगी। आप 'अस्मिन्' से एक होते ही आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप हो जायँगे। सुषुप्ति रोज सबको चुनौती देती है, चाहे वह भक्त हो, धार्मिक हो, घोर संसारी हो या विकारी हो। तुम लौटकर अपने घर आते हो, वहीं तुम्हें सुख-शान्ति मिलती है। अन्य कोई तरीका है ही नहीं। तुममें यदि रुचि नहीं है और ध्यान करते हो तो गहराई नहीं आयेगी।

प्रश्न यह है कि 'परम प्रेम' हो कैसे? 'अस्मिन्' के प्रति प्रीति कैसे जगे? तुम्हारी तीव्र रुचि सुखके प्रति है और सुख हैं हम। इसलिये बार-बार कह रहे हैं कि अपनी ओर ध्यान दो। आपने कंचन, कामिनी, कीर्ति, कर्ममें सुखका आरोप कर रखा है। हम न प्रत्यक्षसे शुरु कर रहे हैं न परोक्षसे, केवल अपरोक्षसे ही हम शुरु कर रहे हैं। किस्मतको कौन जान रहा है? जो जान रहा है, उसको आप मान लो कि वह 'अस्मिन्' है। उसकी धारणा करो कि वह सत् है, चित् है, 'मै' है। ये शब्द अदृश्य हो जायँगे। सत् और चित् जिधर इशारा

कर रहे हैं, वही रह जायगा। 'अस्मिन्' से प्रीतिका उपाय है– 'अस्मिन्'का चिन्तन, खोज और भावना।

पूरा अध्यात्म, पूरा विचारशास्त्र और पूरा दर्शनशास्त्र चार प्रश्नोंमें है। १. तुम कुछ भी क्यों करते हो? इस प्रश्नसे तुममें जिज्ञासा जग जायगी, पहुँचनेका उपाय भी मिल जायगा और आप पहुँच भी जायँगे। इन प्रश्नोंको स्वयं हल करो। पुस्तकोंका सहारा मत लो। अप्पदीपो भव। अपने दीपक खुद बनो। 'उद्धरेत् आत्मनाऽत्मानं' (गीता)। अपने आपको खुद उठाओ। किसकी इन्तजार कर रहे हो कि वह कृपा करेगा? अनादिकालसे अबतक कृपा क्यों नहीं हुई? आप अपने ऊपर अभी कृपा करके चार प्रश्न हल करो। जो बहुत भयंकर प्रमाद पूरे विश्वमें मानव जातिपर छाया हुआ है कि वह सुनानेपर भी सुनता नहीं, जगानेपर भी जागता नहीं। इस प्रमादको हटानेका एक ही उपाय है कि अपनेसे प्रश्न करो। आप अपने साथ धोखा न करो। पूछो कि 'क्यों सोच रहा हूँ, बोलता क्यों हूँ, कुछ भी करता क्यों हूँ?' तुम्हारे पास एक ऐसा यन्त्र है, जो हमेशा सत्यकी ओर ही झुकाव रखता है। वह है बुद्धि। बुद्धि आत्माके निकट है। मन संसारके निकट है। वह हमेशा संसारका पक्ष लेता है और बुद्धि हमेशा सत्यका पक्ष लेती है। 'सत्य पक्षपातो हि धियां स्वभावः।' इसीलिये अन्दरसे आवाज आती है कि यह ठीक है और यह ठीक नहीं। मन कहता है कि तू कर ले, बादमें देखा जायेगा। हम कुछ भी क्यों करते है, क्यों बोलते हैं, क्यों सोचते हैं? इससे विवेक जाग्रत हो जायगा। बुद्धिको बल मिल जायगा, तब हम वासनाको अपना गुरु या ईश्वर नहीं मानेंगे। समझदारीका हम आदर करेंगे।

दूसरा प्रश्न है– सबको निरन्तर कौन जान रहा है? यह अपनेसे पूछो। यहाँसे उपनिषदोंकी भूमिका प्रारम्भ होती है। पहले प्रश्नने तो आपको अधिकारित्व दिया। वह आपको अधिकारी, जिज्ञासु, मुमुक्षु बना देगा। दूसरे प्रश्नका फल आपको पूरे उपनिषद्में प्रविष्ट करा देगा और आपको आत्मज्ञान हो जायगा। मैंका परिच्छिन्न रूपसे आत्मसाक्षात्कार दूसरे प्रश्नसे हो जायगा। वह कौन है, जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण सबको निरन्तर जान रहा है।

तीसरा प्रश्न है कि यह सबकुछ निरन्तर किसमें जाना जा रहा है? इससे आपको ब्रह्मज्ञान हो जायगा। पहले प्रश्नसे 'आत्मज्ञान' और 'यह आत्मा

ब्रह्म है'– यह ज्ञान दूसरे प्रश्नसे हो जायगा और तीसरा प्रश्न है कि 'जो जाना जा रहा है, क्या वह वही है जो जाना रहा है?' इससे आपको 'अद्वैतज्ञान' हो जायगा। यहाँ आकर परमानन्द अभिव्यक्त होगा। तीसरे प्रश्नका हल आपमें सर्वात्मभावका उदय करा देगा। इनके आधारपर आपको पूर्ण व्यवस्थित ध्यान बताया जा रहा है। जहाँ आपका मन फँसा है; चाहे प्रत्यक्षमें, परोक्षमें अथवा अपरोक्षमें, वहाँसे निकालनेका उपाय ब्रह्म-भावना है। सर्वम् ब्रह्मेति, सब परमात्मा है। जाग्रति स्वयंमें ध्यान है। लय व विक्षेपकी निवृत्तिके लिए एकमात्र, उत्तम, अमोघ साधन है– भगवद्दर्शन, तदीक्षण, सर्वम् ब्रह्मेति। जब आप अपनेसे प्रश्न करेंगे तो प्रमाद समाप्त होगा। जाग्रति पैदा होगी। भगवद्भाव करनेसे भी जाग्रति आयेगी। जिससे प्रीति होती है, उसके लिए सब छोड़ दिया जाता है। मन भगवान्‌को समर्पित कर दो और शरणागति भावसे शान्त रहो।

प्रत्यक्षमें सुख नहीं है और न ही परोक्षमें सुख है। अतः उधरसे ध्यान हटा लो। इससे भक्तिशास्त्र व धर्मशास्त्रका अपने-आप निषेध हो गया। इसलिये परोक्षसे भी ध्यान हटा लो। अपरोक्ष द्रष्टामें सुख नहीं है अर्थात् द्रष्टासे भी ध्यान हटाओ। दृश्यसे द्रष्टाकी ओर, द्रष्टासे दृक्‌की ओर। यह स्थिति आपको अद्वैतबोध करा देगी। इससे आपको पता लगेगा कि यहसब 'मैं' हूँ। साक्षादपरोक्षका अनुभव होगा। साक्षादपरोक्षका अर्थ है– आत्मा, ब्रह्म, अद्वयता, परमानन्द। इसका बोध होते ही 'मैं सर्व हूँ', 'अहमेवेदम् सर्वम्' अनुभवमें आयेगा। इससे पहले जो बताया था कि 'सब परमात्मा है', वह उपासना कहलाती है, अनुभव नहीं। अन्तमें जहाँ पहुँचना होता है, उसे पहले हमने देखना शुरु किया था तदीक्षणके रूपमें, अब अनुभवके आधारपर देखेंगे, तब यह सर्वात्मभाव होगा।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

दृष्टि-साधनाका प्रयोग

<u>प्रयोजन</u>– सत्यके लिए, आनन्दके लिए, अनन्त परमात्माके अनुभवके लिए **और शेष जीवन सुखमय बितानेके लिए आप उपस्थित हैं।**

<u>प्रार्थना या संकल्प</u>– प्राणायाम तथा अपेक्षापूर्वक संकल्परूप प्रार्थना करें। पूरक-रेचकमें प्रार्थनाका वाक्य मानसिक वाणीसे बोलें। कुम्भकमें सुषुप्ति-जैसी स्थिति लावें-

'हे सच्चिदानन्द अनन्त निर्विशेष अद्वय परमात्मा! आप सर्वत्र, सर्वदा, सर्वरूपोंमें अनुकूल उपस्थित हैं। हम सबमें आत्मजाग्रति तथा ब्रह्मात्मबोध अभी अभिव्यक्त हो। हम शरणागत हैं। ॐ' (२ मिनट)

<u>भावना</u>– पूरक-रेचकमें स्वरूपबोधक वाक्यका मानसिक उच्चारण करें और कुम्भकमें वाक्यके अनुसार अनुभव करें। 'मैं सुषुप्तिशेष हूँ– अनन्त आनन्द। मैं सर्वरूप हूँ– अद्वयतत्त्व।' (४ बार लगभग ६ मिनट)

<u>स्वाध्याय एवं विचार</u>– गम्भीरतासे श्रवण-पठन करें और प्रश्नोत्तर शैलीसे विचार करें। ऐसा मानें कि ये वचन मेरे लिए हैं, इसलिए जिज्ञासापूर्वक समझें। अपने जीवनसे जोड़ें और इन्हें व्यक्त होने दें। सावधान रहें– विचार केन्द्रित रहें, मनोरंजन न करें। (पुस्तकोंके आधारपर विचार करें लगभग ३० मिनट)

<u>देहप्रेक्षा</u>– सावधानी व पूरी रुचिसे विधिपूर्वक देहप्रेक्षा करें। सरल आसनमें बैठें। नेत्रोंकी दृष्टि आधी खुली रखें। आसनपर नीचे नजर रहे। समझमें यह रहे कि शरीरके सब ओर अनन्त आकाश है, जो सब दृश्योंको ओत-प्रोत किये हुए है और यही मैं हूँ। ऐसी एकाग्रदृष्टि बनाये रखें।

यह अनुभव करते रहें कि 'मैं आकाश हूँ।' यह समझ, संवित् और वृत्ति बनी रहे कि 'मैं बृहत् आकाश हूँ।' (लगभग १० मिनट)

<u>सुषुप्तिशेष</u>– शान्त बैठे रहें। नेत्र बन्द करें। अपनी अनुभूत गहरी निद्राको याद करें। जब वहाँ कुछ नहीं रहता, तब कौन या क्या बच जाता है? इसपर ध्यान दें– देते रहें– पता लग जायगा।

सुषुप्तिमें क्या शेष रहता है? यह ध्यान-अनुसन्धान बनाये रखें। इस

खोज का निष्कर्ष अनुभवमें आना चाहिए, न कि शब्दोंमें। (लगभग १० मिनट)

किसमें– जितना भी स्थूल जगत् है– जाग्रत है, जितना भी मनोराज्य, स्वप्न तथा सूक्ष्म है तथा परं सूक्ष्म जो कारण है, वह सब किसमें जाना जा रहा है? इसे अपनी जिज्ञासा मान लें और ध्यानसे यह पता करें कि सबकुछ किसमें जाना जा रहा है?

जो भी विचार आते हैं, वे किसमें प्रकाशित हो रहे हैं? इस जिज्ञासापर ध्यान केन्द्रित रहने दें।

यह शरीर, सारी वृत्तियाँ और विकार, यह अहंकार किसमें प्रतीत होते हैं? 'किसमें' पर ध्यान दें। (लगभग १० मिनट)

सुषुप्ति-सुख– यह सबका अनुभव है कि सुषुप्तिमें शान्ति रहती है, सुख होता है। बस, उस आनन्दको याद करें, करते रहें।

सावधानीसे इसी आनन्दपर ध्यान बनाये रखें। यह आनन्द-ध्यान है।

सुषुप्तिमें अद्वयसुखका अनुभव है। उसीके ध्यानसे यही सुख, यही निरपेक्ष रस इस जाग्रत अवस्थामें फैल जायगा, ओत-प्रोत हो जायगा।

उपनिषदोंके अनुसार सुषुप्ति आनन्दमयी स्वरूपस्थिति है– इसीपर ध्यान बनाये रखें। (लगभग १० मिनट)

आत्मनिरीक्षण– अब आत्मनिरीक्षण करें कि मेरी सावधानी, रुचि, तत्परता और अनुभव कैसा रहा?परस्पर प्रश्नोत्तर करें। विधेयात्मक सोचें।

परस्पर स्वेक्षण करें सर्वात्मभावके लिए। सर्वरूपमें स्वेक्षण करें। (लगभग ६ मिनट)

भावना– पुनः सत्यानुसारी भावना करें। प्राणायामपूर्वक अनुभवात्मक जप करें।

पूरकमें वाक्यका मानसिक उच्चारण करें। कुम्भकमें भावना करें, स्वीकार करें, अनुभव करें, जाग्रत रहें।

१. मैं सुषुप्तिशेष प्रत्यक् चेतन हूँ। (प्रत्येक वाक्य १५ सेकेण्ड)

२. सन्मात्र अमृत अस्तित्व।

३. मैं आनन्द हूँ– जीवन आनन्दमय है।

४. मैं बृहत् हूँ– अनन्त ब्रह्म।

५. मैं निर्विशेष हूँ– परिपूर्ण।

६. मैं सर्वरूप हूँ– अद्वयवस्तु।

चार बार। (लगभग ६ मिनट)

सन्देश– ऐसी निरपेक्ष और सच्ची साधना प्रतिदिन कई बार स्वयं या सामूहिक करते रहें। अविस्मृतिपर्यन्त, स्वीकृति या अनुभवपर्यन्त। शीघ्र ही जीवन्मुक्ति और ब्रह्मनिष्ठा व्यक्त हो जायगी। सर्वात्मभाव विलसित हो जायगा। ऐसा निर्विकल्प निश्चय करें।

ॐ ब्रह्म सर्वम् ॐ

आत्म-ध्यानकी यह प्रक्रिया प्रयोगात्मक रूपमें रिकार्ड की हुई है। उसका आलम्बन ले सकते हैं।

ॐ ब्रह्म सर्वम्

पुस्तकोंका संक्षिप्ततम सामान्य परिचय

अनन्त अक्षय शान्ति या आनन्द ही जीवनका प्रयोजन है। अद्वैतभाव ही आनन्द है; जिसका ब्रह्मविद्या द्वारा ही साक्षात्कार होता है। तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्। किसी सत्पुरुषके सम्पर्कसे या सत्संकल्पसे, उत्तिष्ठत जाग्रतसे यदि आपमें अद्वैतभावकी जिज्ञासा जग जाय, तो मेरा निष्काम परामर्श यह है कि आप निम्नलिखित पुस्तकोंका अध्ययन करें। आपको सम्यक्, स्वस्थ, स्पष्ट और अनुभवपर्यवसायी दृष्टि प्राप्त हो जायगी। प्राप्त दृष्टिपर ध्यान देते रहनेसे आप आनन्दी हो जायँगे। ये पुस्तकें श्रुति, युक्ति तथा अनुभव प्रज्ञापूर्वक हैं। यदि आप योगवासिष्ठ ग्रन्थ द्वारा सम्यक् दृष्टि व स्थिति प्राप्त करना चाहें तो योगवासिष्ठका श्रवण भी कर सकते हैं। इसका ऑडियो भी यहाँ प्रस्तुत है। आगे आपकी इच्छा।

यदि आप सत्यानुसारी आनन्दमय जीवन जीना चाहते हों, तो निम्नलिखित पुस्तकोंका जिज्ञासा- पूर्वक विचार करें अथवा निम्नलिखित मेमोरी कार्ड या सी०डी० श्रवण करें -

१. त्रिपुरारहस्य, ब्रह्मयोग एवं योगभक्ति सूत्र (भाग- १, २ व ३)
मूल्य- प्रथम भाग - १००/- द्वितीय व तृतीय भाग- २००/-

२. योगवासिष्ठानुशीलन (भाग- १ से ४)
मूल्य- प्रथम व द्वितीय भाग १००/- तृतीय व चतुर्थ भाग २००/-

३. सुखका परिचय एवं प्राप्ति (भागवतकी स्तुतियोंका संकलन) - मूल्य ५०/-

४. ईशावास्योपनिषद - मूल्य ४०/-

५. भक्ति चिन्तन - मूल्य १००/-

६. अपनी ओर इशारा - मूल्य ५०/-

७. तदीक्षण - मूल्य ५०/-

८. सत्चर्चा, सत्चिन्तन और सत्संग - मूल्य ५०/-

९. आत्म-परिचय - मूल्य ५०/-

१०. योगवासिष्ठानुशीलन, आत्मयोग, अद्वैतयोग पर सी०डी०
मूल्य ५०/- प्रति सी०डी०

११. मेमोरी कार्ड - मूल्य २५०/-

इन पुस्तकोंके अतिरिक्त कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशनाधीन हैं।